॥ श्रीः ॥

ब्रह्मचतुष्पदी



प्रणेता—

समीक्षाचक्रवर्ति

स्व० पं० श्रीमधुसूदनशर्म्ममैथिलः ।

॥ श्रीः ॥

(१) ब्रह्मविज्ञानविभागे—(६) विज्ञानमधुसूदने-

* ब्रह्मचतुष्पदी *



प्रजापतिर्जीव उतेश्वरोऽसौ परमेश्वरश्चेति चतुर्भिरेतैः ।
रूपैः परं ब्रह्म विभाति तस्माद् व्याख्यायते ब्रह्मचतुष्पदीयम् ॥



समीक्षाचक्रवर्ति-विद्यावाचस्पति-महामहोपदेशक-विद्वद्वर-

स्व० पण्डित श्रीमधुसूदनशर्म्म मैथिल-

विरचिता

सेयं

तदात्मजेन पं० श्रीप्रद्युम्नशर्म्मणा

सम्पादिता प्रकाशिता च ।



द्वितीयावृत्तिः ५०० } विक्रम सम्बत् २००६ { मूल्यम् २॥)



वेदविद्यासमुद्धारक स्वर्गीय पण्डित श्रीमधुसूदनशर्म्म मैथिलाः ।

॥ भूमिका ॥

ब्रह्म विज्ञान विषय में वैदिक दर्शनों के संबन्ध में 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्' इत्यादि नासदीय सूक्त के आरम्भ के मन्त्रों में जिन दशवादों का निषेध की प्रतियां गीता के रूप से उल्लेख हुआ है, उन पर पूर्व पक्षरूप दश ग्रंथों की रचना कर अन्त में सिद्धान्तरूप ब्रह्मवाद को श्रीगुरुचरणों ने कई ग्रंथों में विभक्त किया है। कठिन दुरूह विषय को बार बार कई प्रकार से समझाने की आवश्यकता होती है, यह विद्वानों से छिपा नहीं है। अस्तु, उस ब्रह्मवाद का एक ग्रन्थ 'ब्रह्म समन्वय' पूर्व प्रकाशित हो चुका है, और उस ही का एक ग्रन्थ यह 'ब्रह्मचतुष्पदी' भी है। उपनिषदों में आख्यायिका रूप में और उपदेश रूप में भी कई जगह 'चतुष्पाद ब्रह्म' का निरूपण है, उसही के आधार पर ब्रह्म के चार पाद कल्पना कर इस ब्रह्म-चतुष्पदी की रचना की गई है। यहां निर्गुण, निर्विशेष रसतत्व से आरम्भ कर संसार की वर्त्तमान स्थिति तक चार प्रकार की अवस्था मानी गई है। १ गूढात्मा २ शिपिविष्ट ३ अधियज्ञ और ४ विराट् ये ही अवस्थायें एक २ पाद मानी गई हैं। निर्गुण निर्विशेष से आरम्भ कर केवल शक्तियों का विकास जहां तक होता है, वह 'गूढोत्मा' नाम के प्रथम पाद की सीमा है, सृष्टि होकर भी इन्द्रिय ग्रहण योग्य स्थूलता जहां तक नहीं होती वह दूसरा पाद है। यह सूक्ष्म भाग 'शेप' (गुप्तस्थान) की तरह वेष्टित (ढका हुआ अप्रकाशित) रहता है, इसलिये इसे 'शिपिविष्ट' नाम दिया गया है। यह शक्तियों का ही विजृम्भण है। शक्तियों का भूतों का संमिश्रण रूप यज्ञ तीसरा पाद है, और स्थूलता आजाने पर वर्तमान स्थिति रूप विराट् चौथा पाद है। इनमें प्रत्येक के चार चार भेद कर 'षोडशकल' पुरुष भी इस ग्रन्थ में दिखाया गया है, और इन विषयों का वैज्ञानिक प्रक्रिया से इस प्रकार निरूपण है कि मननशील विद्वान इस गूढ तत्व को भली भांति ग्रहण कर सकते हैं। उपनिषद् जो आज बड़े २ विद्वानों की दृष्टि में भी पहेली बने हुए हैं, सैकडों वर्षों से जिनका दुरूह तत्त्व गुहानिहित है, उनको ग्रन्थियां श्री गुरुचरणों की कृपा से बहुत कुछ सुलझती दिखाई देती हैं और एक प्रकार का प्रकाश बुद्धि में होने लगता है। अस्तु-वेद क्या वस्तु है, मुख्यतः 'वेद' शब्दार्थ क्या है, और वे वेद कितने प्रकार के हैं इस विषय का विवेचन प्रकृत ग्रंथ में विशुद्ध रूप से हुआ है। यह आधुनिक विद्वानों के लिये बिलकुल नई बात है 'प्रजापति' शब्दार्थ का निरूपण भी यहां विस्तार से है। उसी के प्रसङ्ग में यज्ञ का भी निरूपण हुआ है इसके अतिरिक्त जीव ईश्वर, और परमेश्वर इन तीनों संस्थाओं का स्वरूप इस ग्रन्थ में विशद रूप से समझाया गया है; और अन्त में जीव की गति भी दिखाई है।

दुःख की बात है कि यह ग्रन्थ भी पूर्ण नहीं है, मध्य मध्य में कई विषय त्रुटित हैं, और अन्त में भी कुछ वक्तव्य शेष रह गया है।

प्रथम परिच्छेद के अनन्तर चतुर्थ परिच्छेद ही लिखित कापियों में मिला है, द्वितीय

और तृतीय परिच्छेद में क्या विषय लिखे जाने को थे, यह सर्वान्तर्यामी भगवान ही जानें। ऐसा अनुमान होता है कि 'शिपिविष्ट' और 'अतियज्ञ' का अधिक स्पष्टीकरण इन परिच्छेदों में करने की श्रीगुरुचरणों की इच्छा रही होगी। इतना अवश्य है कि ग्रंथ के क्रम (सिलसिले) में इन परिच्छेदों के न होने पर भी कोई असंलग्नता दिखाई नहीं देती।

स्वर्गीय श्री गुरुचरणों की कार्यपद्धति यावज्जन्म इसी प्रकार की रही कि वे अनेक ग्रंथों का आरम्भ साथ साथ करते थे, और कभी किसी में और कभी किसी में विशेष मनोयोग देते थे। इसी चक्र में कभी कोई संपन्नप्राय ग्रंथ उपेक्षा-कोटि में पड़ जाता तो फिर उसको अवसर मिलना ही कठिन हो जाता था। कार्यक्षेत्र दृष्टि के सामने बहुत विस्तृत था, और कार्य करने की शक्ति मनुष्य में परिमित ही होती है और कोई व्यक्ति इस प्रकार का न था, न है कि जिससे प्रकृत कार्य में कुछ सहायता मिल सके, यही कारण है कि उनके बहुत से ग्रन्थ अधूरे हैं, और अब उनकी पूर्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। अब तो यही उपाय है कि जितना कुछ वे लिख गये उस पर संतोष किया जाय और उसे ही समझने और प्रचार में लाने का प्रयत्न किया जाय। प्रचार होने पर भगवत्कृपा से आज नहीं तो सौ पचास वर्ष बाद कोई व्यक्ति फिर इस प्रकार का हो सकता है, जो इन त्रुटित अंशों को भी पूर्त्ति करे। आज दिन तो जो उनके विज्ञान के 'सूर्य' होने का दावा कर रहे हैं, और अपनी स्वाध्याय-शीलता का डिण्डिम पीट रहे हैं, वे अभी उस विज्ञान-समुद्र के तीर की ओर ही ताक रहे हैं। जो कुछ उनसे पढ़ कर लिखा है. उसके अक्षर घोट रहे हैं, इञ्च भर भी आगे बढ़ने के कोई लक्षण अपने नहीं दिखाते। अत्यन्त खेद की बात तो यह है कि देश में गणनातीत वैदिक धर्माभिमानी और हिन्दू संस्कृति के अभिमानियों के रहते भी अभी उनके ग्रन्थों के उप-युक्त संस्करण निकलने की भी व्यवस्था नहीं होती। ईश्वर उनके सुपुत्र पं० श्रीप्रद्युम्नभाजी को चिरायु करें जिनके अथक अहोरात्र परिश्रम और अपने आवश्यक-कार्यों से बचकर किये जाने वाले अपने ही द्रव्यव्यय से इन ग्रन्थरत्नों का हमें दर्शन हो रहा है। प्रूफ-शोधक विद्वान् आदि की सुव्यवस्था न होने और जयपुर में उत्तम प्रेस न होने से ग्रन्थों में अशुद्धियाँ बहुत रह जाती हैं उनके लिये शुद्धि-पत्र भी बडे बडे बनाये जाते हैं, किन्तु फिर भी यह भार विद्वानों के सिर पर ही रहता है कि वे अवधान से पढ़ें और प्रेस की अशुद्धियों को विचार-पूर्वक ठीक करलें। प्रकृत ग्रन्थ विचार-पूर्वक विद्वत्समाज में पढा जायगा तो वैदिक विज्ञान के प्रसार में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। इतना ही लिख कर इस संक्षिप्त वक्तव्य को हम समाप्त करते हैं।

विद्वानों का वशंवद

जयपुर।

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

२३-२-५२ ई०।

(महामहोपाध्याय)

॥ श्रीः ॥

ब्रह्मचतुष्पदीग्रन्थस्य विषयतालिका प्रदर्श्यते ।

विषयाः पृष्ठाः

१ ब्रह्मपरिभाषा । ... १
२ प्रथमः परिच्छेदः । ... १
३ द्विविधश्चतुष्कलः प्रजापतिः । ... ४
४ विश्वस्यानिरुक्तैकमूलकत्वम् । ... ५
५ विश्वमूलैकत्वोपपत्तिः । ... ६
६ विश्वमूले ब्रह्मशब्दः । ... ७
७ अविज्ञातरूढे परात्परशब्दः । ... ७
८ अवैकारिकरूढं पुरुषत्रयम् । ... ८
९ अव्ययः पुरुषः । ... ९
१० सृष्टि त्रिसत्यमव्ययम् । ... १०
११ अक्षरः पुरुषः । ... ११
१२ क्षरः पुरुषः । ... १२
१३ वैकारिकरूढश्चित्यः पुरस्कन्धः । ... १२
१४ योगरूढश्चित्यो महिमस्कन्धः ... १४
१५ यौगिकरूढश्चित्यो महिमस्कन्धः । ... १५
१६ वषट्कारः । ... १५
१७ लोकसहस्रम् ... १६
१८ वेदस्वरूपम । ... १६
१९ रसवेदाः । ... १७
२० वितानवेदाः । ... १९
२१ छन्दोवेदाः । ... २०
२२ सामभक्तयः । ... २२
२३ वेद साधारणम् । ... २३
२४ प्रजापतिस्वरूपम् । ... २४
२५ आदि प्रजापतिः । ... २७
२६ यौगिकरूढश्चित्यो यज्ञस्कन्धः । ... २८
२७ विशेषणव्यपदेशानुरोधिनो विशिष्टव्यपदेशाः । ... २८
२८ यज्ञस्वरूपम् (यज्ञविभागः) । ... २८

विषयाः पृष्ठाः

२६ यज्ञभक्तयः । ... ३१
३० प्रजास्वरूपम् (प्रजाविभागः) ... ३३
३१ प्रजाभक्तयः । ... ३६
३२ अन्नादनकल्पः । ... ३७
३३ यौगिकदर्शनम् (मिश्रणम्) । ... ३८
३४ व्यूहश्चतुर्वर्गः (चतुर्व्यूहः) । ... ३६
३५ प्रजापति पञ्चस्कन्धाः । ... ४०
३६ स्कन्धव्यूहः (व्यूहानुव्यूहः) । ... ४१
३७ त्रैगुण्यसंचरः । ... ४२
३८ आत्मानात्मविवेकः । ... ४२

अथ त्रिराट् परिच्छेदः ।

३६ जीवेश्वर-परमेश्वराणां विवेकः । ... ४४
४० साधर्म्यवैधर्म्ये श्वेताश्वतरोपनिषद् । ... ४४
४१ श्वेताश्वतरतात्पर्यम् । ... ४५
४२ पञ्चक्लेशाविमर्शः । ... ४५
४३ जीवस्वरूपादेशः । ... ४६
४४ ईश्वरस्वरूपादेशः । ... ४६
४५ परमेश्वरस्वरूपादेशः । ... ४८
४६ जीवेश्वरपरमेश्वराणां शरीराणि । ... ४८
४७ जीवेश्वरयोः शरीरे त्रैलोक्यव्यवस्था । ... ४८
४८ जीवेश्वरपरमेश्वराणामात्मत्रयसाम्यकल्पः । ... ४८
४९ अनाहतनादव्यवस्था । ... ४६
५० जीवशरीरे तन्त्रत्रयसमावेशः । ... ४६
५१ बहिर्धा तन्त्रत्रयसमावेशः । ... ५०
५२ जीवेश्वर-परमेश्वराणामायुर्दायः । ... ५१
५३ जीवेश्वरपरमेश्वराणां स्वातन्त्र्ये जीवतन्त्रम् । ... ५१
५४ ईश्वरतन्त्रम् । ... ५२
५५ परमेश्वरतन्त्रम् । ... ५२
५६ अपरेषां परस्मिन् पारतन्त्र्यम् । ... ५३
५७ जीवेश्वरपरमेश्वराणां कामनाविवेकः । ... ५३

विषयाः पृष्ठाः
५८ जीवेश्वरपरमेश्वराणां नभ्यात्मविवेकः। ... ५४
५९ ,, ,, शरीरे दैशिकसंस्थाविवेकः। ... ५४
६० ,, ,, कालिकसंस्थाविवेकः। ... ५४
६१ जीवेश्वरपरमेश्वराणां जगत्कर्तृत्वविवेकः। ... ५५
६२ परमेश्वरस्य सार्वात्म्यम्। ... ५५
६३ भूमारस आनन्दः स परमेश्वरः। ... ५६
६४ परमेश्वरस्योपासना। ... ५६

अथ ईश्वरदर्शनम्।

६५ ईश्वरसंप्रतिष्ठा। ... ५७
६६ आत्मरूपशरीरवित्तैश्चतुःसंस्थः ईश्वरः। ... ५७
६७ सत्यज्ञानरूपम्। ... ५८
६८ सत्यान्तर्यामिरूपम्। ... ५८
६९ प्राणानामृषि (देव) पितृदेवासुरगन्धर्वाणां सृष्टिक्रमः। ... ५९
७० ब्रह्माश्वत्थबल्शापञ्चस्कन्धाः। ... ६०
७१ ईश्वरशरीरं वसुधानकोशः। ... ६२
७२ चिदात्मा परात्मा ईश्वरस्यात्मा। ... ६२
७३ सर्वदेवात्मा चेत्रज्ञ ईश्वरस्यात्मा। ... ६२
७४ महान् ईश्वरस्यात्मा। ... ६३
७५ भूतात्मा-कर्म्मात्मा-ईश्वरस्यात्मा। ... ६३
७६ सूत्रात्मा वाय्वात्मा ईश्वरस्यात्मा। ... ६४
७७ ईश्वरस्योपासना। ... ६४
७८ उपासनास्वरूपनिर्वचनम्। ... ६५
७९ ओंकारस्येश्वरवचनस्य निरुक्तिः। ... ६६
८० उपास्यमीश्वररूपं ब्रह्मगायत्री। ... ६७
८१ सूर्यगायत्री। ... ६९
८२ चन्द्रगायत्री। ... ६९

जीवदर्शनम्।

८३ जीव-परिचयः। ... ७१
८४ ज्ञानोत्पत्तिक्रमः। ... ७४

विषयाः | पृष्ठाः

अथात्म-परिच्छेदः ।

८५ जीवचतुरात्म-संस्थायां प्रत्ययात्मवादः । ... ७६
८६ प्रत्ययातिरिक्तात्मवादः । ... ७६
८७ कोशात्मवादः । ... ७७
८८ कोशवदात्मवादः । ... ७७
८९ चिदात्मवादेकोशचितिः । ... ७७
९० ,, ,, पुरुषचितिः । ... ७८
९१ ,, ,, लोकचितिः । ... ७९
९२ ,, ,, धातुचितिः । ... ७९
९३ ,, ,, भूतचितिः । ... ८०
९४ प्रकारान्तरेण पञ्चात्मसंस्था । ... ८०
९५ सूत्रात्मा । ... ८२
९६ इन्द्र आत्मा ... ८३

आत्मपरिच्छेदे पञ्चात्मसंस्था ।

९६ आत्मपञ्चके शारीरिकशब्दः । ... ८४
१ २ ३ ४ ५
९७ परात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा, भूतात्मा ... ८४
९८ पञ्चात्मसंस्था । ... ८५
९९ आत्मत्रये जीवशब्दः । ... ८६
१०० अव्ययाक्षरक्षरैस्त्रिधातुरात्मा । ... ८६
१०१ परात्मा अव्ययात्मा (शान्तः) । ... ८६
१०२ ,, ,, (समृद्धः) । ... ८७
१०३ सृष्टि प्रविष्टाभ्यां द्विविधः समृद्धम् । ... ८७
१०४ भूमान्तर्यामी सत्यः सूत्रात्मा चायमव्ययः । ... ८७
१०५ चतुष्पर्वा चेतना । ... ८८
१०६ संकलिताख्यानम् । ... ८९
१०७ सत्यान्तर्यामी । ... ८९
१०८ मौलिकप्राणानामृषित्वम् । ... ९०
१०९ सत्यात्मा । ... ९०

विषयाः पृष्ठाः

विषयाः		पृष्ठाः
११० क्षेत्रज्ञात्मा।	...	९१
१११ अक्षरात्मा।	...	९१
११२ भूतात्मनीश्वरःक्षेत्रज्ञः।	...	९४
११३ महतिचिदाभासः क्षेत्रज्ञः।	...	९४
११४ इन्द्रश्चाक्षुषपुरुषः क्षेत्रज्ञः।	...	९४
११५ सर्वदेवमयः क्षेत्रज्ञः।	...	९५
११६ प्रकारान्तरेण सर्वदेवमयः क्षेत्रज्ञः।	...	९५
११७ क्षेत्रस्य विज्ञानात्मनो विधर्तृत्वम्।	...	९७
११८ क्षेत्रज्ञस्य सेतुत्वम्।	...	९७
११९ क्षेत्रज्ञस्य भूतात्मकर्म्मप्रयोजकत्वम्।	...	९७
१२० क्षेत्रज्ञस्य निर्लिप्तादि गुणकत्वम्।	...	९८
१२१ क्षेत्रज्ञस्य अवस्थात्रयी।	...	९८
१२२ जाग्रदवस्थायां क्षेत्रज्ञः।	...	९८
१२३ स्वप्नावस्थायां क्षेत्रज्ञः।	...	९८
१२४ सुषुप्त्यवस्थायां क्षेत्रज्ञः।	...	९८
१२५ षोडशीन्द्र अक्षरात्मा।	...	१००
१२६ महानात्मा अक्षरात्मा।	...	१०१
१२७ आकृतिमहान्।	...	१०३
१२८ प्रकृतिमहान्।	...	१०४
१२९ प्रकृतिविकृतयो वृत्तयः।	...	१०६
१३० अहंकृतिमहान्।	...	१०६
१३१ भ्रूणः।	...	१०८
१३२ सृमराः।	...	१०९
१३३ भूतात्मा।	...	११०
१३४ वैश्वानरः–तैजसः–प्राज्ञः।	...	१११
१३५ वैश्वानरात्मा।	...	१११
१३६ तैजस आत्मा।	...	११३
१३७ प्रज्ञात्मा।	...	११४
१३८ प्राज्ञयोन्याशयौ (विद्युत् स्वसूर्यचन्द्रस्वरसेषु)।	...	११४
१३९ प्राज्ञप्रतिष्ठा (पञ्च ज्योतिरन्नवती प्रज्ञा)।	...	११५

विषयाः पृष्ठाः

१४० प्राज्ञस्यायतनम्। ... ११६
१४१ इन्द्रियप्राणानां देवात्मकता। ... ११६
१४२ पदनीयम्। ... ११७
१४३ इन्द्रियप्राणनामेकभूयस्त्वम्। ... ११७
१४४ इन्द्रियप्राणेषु प्राणमुख्यता। ... ११८
१४५ प्राज्ञस्य विज्ञानमयत्वम्। ... ११८
१४६ प्राज्ञस्यान्यान्यत्वम्। ... ११८
१४७ प्रत्ययवृद्धिक्रमः। ... ११९
१४८ प्राज्ञस्य नित्या गतिः। ... ११९
१४९ प्राज्ञस्य सप्तावस्थाः। ... १२०
१५० जाग्रदवस्था। ... १२०
१५१ स्वप्नावस्थायां प्रथमं मतम्। ... १२०
१५२ मतान्तरम्। ... १२०
१५३ स्वप्नावस्थायां द्वितीयमतम्। ... १२२
१५४ सुषुप्त्यवस्था। ... १२४
१५५ मोहमूर्च्छावस्था ... १२५
१५६ आत्मशास्त्रसमन्वयः। ... १२६

गतिविद्या।

१५७ गत्याश्रयाणामात्मनां प्रतिपत्तिः। ... १२९
१५८ गतिरूपे–आत्मनां स्वयोनिप्रतिपत्तेर्गतित्वम्। ... १३१
१५९ गतिभेदाः। ... १३१
१६० नित्यगतिः। ... १३३
१६१ कालगतिः। ... १३४
१६२ द्वे पञ्चत्वगती। ... १३४
१६३ मुक्तिः संसृतिरिति द्विविधोत्क्रान्तिगतिः। ... १३५
१६४ मुक्तिभेदाः। ... १३५
१६५ भूमोदर्कः क्षीणोदर्कः–इति द्विविधक्रममुक्तिः। ... १३६
१६६ कैवल्यमुक्तिः, निर्वाणमुक्तिरिति परा गतिः। ... १३६
१६७ संसारगतिः। ... १३६
१६८ गतिनिमित्तानि। ... १३७
१६९ गतिहेतुकामः। ... १३८
१७० विप्रतिपत्तिशोधनम्। ... १३८

* इति *

* अथ ब्रह्मपरिभाषा *



(१) ब्रह्म तदुच्यते यत इदं सर्वमभूद् भवति भविष्यति च यत्र प्रत्यतिष्ठत् प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठास्यति च यत्राऽभ्यगादभ्येत्यपेष्यति च तद् ब्रह्म ॥

(२) ब्रह्मेदं चतुष्पात् प्रतिपद्यते—आयतनं धर्मश्चान्तर्यामी, सूत्रं च । आयतनापेक्षं ब्रह्मणि सर्वम् धर्मापेक्षं सर्वं ब्रह्म । अन्तर्याम्यपेक्षमन्यदलिप्तं ब्रह्म । सूत्रापेक्षं सर्वस्मिन् ब्रह्म ॥

(३) आयतनमवच्छेदो मर्यादा छन्दोऽधिकरणमित्यनर्थान्तरम् । आयतनं चतुर्धा-जातिः व्यक्तिः कालो देशः । तत्र जातिव्यक्ती धर्माणामायतने । कालः क्रियायतनम् । देश आकाशः । यत्रापि पृथिव्यादिर्देश आयतनं भवति तदप्याकाशानुग्रहादेव । आकाशस्त्रेधा-परमाकाशः, पुराणाकाशः, दहराकाशश्च । असीमः परमाकाशः । सूर्यं प्रकाशंपरितो वेष्टकस्यापांसमुद्रस्य परितो वेष्टको यो वाक्समुद्रस्तदवच्छिन्नोऽवकाशः पुराणाकाशः । शरीराकाशान्तर्गतहृदयाकाशो दहराकाशः । परमेश्वरस्यायतनं परमम् । ईश्वरायतनं पुराणम् । जीवायतनं दहरः । सर्वमत्र प्रतिष्ठितम् । तदित्थमायतनं व्याख्यातम् ।

(४) धर्मश्चतुर्धा—नित्यधर्मः, प्रकृतिधर्मः, विकृतिधर्मः, मायाधर्मश्च । नित्यधर्मोऽक्षरम् । प्रकृतिधर्मः क्षरमक्षरञ्च । विकृतिधर्मः क्षरमेव । एतत् त्रयम्—अभयम्, अमृतं, मर्त्यं चेत्युच्यते । मर्त्यं मृत्युरित्येकार्थौ । मायाधर्मो नामरूपादि । मायाधर्मानुग्रहात् प्रकृति-धर्मो विकृतिधर्मतामेति ।

(५) आयतनधर्मयोर्योगात् पुरुष उच्यते आयतनं पूः । पुरि व द्धर्म्मैरवच्छिन्नो धर्मी पुरुषः स त्रेधा-परमपुरुषः, पुराणपुरुषः, जीवपुरुषश्च । तत्र परमपुरुषः, उत्तमपुरुषः महापुरुषः, अक्षरपुरुषः, परमेश्वर इत्येकार्थाः । पुराणपुरुषः, यज्ञपुरुषः, महापुरुषः अक्षरपुरुषः, क्षरपुरुषः, ईश्वरः, विराट्पुरुषः, अणुपुरुषः इत्येकार्थाः । जीवपुरुषः, यज्ञपुरुषः, क्षुद्रपुरुषः, क्षरपुरुषः पिण्डपुरुषः इत्येकार्थाः । परमपुरुषः-ओम्-रम् । पुराणपुरुषः-अहः-कम् । जीवपुरुषः—अहं—कम् ॥

(६) परमेश्वरोऽध्यक्षः—साक्षी । तत्र चत्वारो धर्माः—आनन्दो विज्ञानं विधृतिः सत्य इति । त एते क्रमेण रसो ज्योतिः यशः प्रतिष्ठा इत्याख्यायन्ते । आनन्दः सर्वं विलक्षणः । विज्ञानं सदसत् । विधरणमसत् । सत्यः सत् । आनन्दः, मनः, प्राणो वागिति चत्वारः । परमेश्वरे पुरुषाः स्युर्भिन्नायतनसापेक्षम् ।

(७) ईश्वरो हिरण्यगर्भः । तत्र चत्वारो धर्माः—देवाः, लोकाः, भूतानि, वेदाश्च । तत्र त्रयो देवाः—तेषां पञ्च देवाः—तेषां बहवो देवाः । त्रयो लोकाः—तेषां सप्त लोकाः तेषां बहवो लोकाः । त्रीणि भूतानि—तेषां पञ्चभूतानि—तेषां बहूनि भूतानि । त्रयो वेदाः—तेषां पञ्च वेदाः—तेषामनन्तवेदाः ॥

(८) जीवः पुद्गलः । तस्य चत्वारो धर्माः—प्राणाः, लोकाः, भूतानि, वेदाः । त्रयः प्राणाः, पञ्च प्राणाः, बहवः प्राणाः । त्रयो लोकाः, सप्त लोकाः, बहवो लोकाः । त्रीणि भूतानि, पञ्च भूतानि, बहूनि भूतानि । त्रयो वेदाः, पञ्च वेदाः, अनन्तवेदाः । यदेवात्र तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । अन्धं तमः प्रविशति य इह नानेव पश्यति ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

(९) परमेश्वरे ईश्वरे जीवे चायमन्तर्यामिदेवोऽन्तरतस्तिष्ठन् यमयति यो हि नियमादन्यथात्वंगन्तुं प्रतिरोधति, स एकोऽपि प्रत्यर्थं भिन्नरूपाणि कृत्वाऽवतिष्ठते तदित्थमन्तर्यामी व्याख्यातः ।

(१०) परमेश्वरे ईश्वरे जीवे वा—धर्मसम्बन्धात् रस आनन्दः । अन्तर्यामिसम्बन्धाज्ज्योतिर्विज्ञानम् । सूत्रात्मसम्बन्धाद्विधरणलक्षणो यशः प्राणः । आयतनसम्बन्धात् प्रतिष्ठा सत्ता । तदित्थं धर्मो व्याख्यातः ।

(११) परमेश्वरे ईश्वरे जीवे चायं सूत्रात्मा एक एषामेकत्वकरः । सर्वत्रैकरूपेणानुस्यूतः । प्राणात्मा वायुः । तदित्थं सूत्रात्मा व्याख्यातः ।

(१२) विशुद्धश्च परमेश्वरश्च ईश्वरश्च जीवश्च—इत्येवं चतुष्पाद् ब्रह्म । यदिदं ब्रह्म चतुष्पादाख्यातं तदेवेदमन्यथान्यथाविवर्तमानमन्तरन्तर्भवति परमेश्वरे च ईश्वरे च जीवे च । तत्र परमेश्वरे तावत् आनन्दो धर्मः । विज्ञानमन्तर्यामि । विधृतिः सूत्रम् प्रतिष्ठात्वायतनं । अथेश्वरे पुद्गले वा देवोऽन्तर्यामी । लोक आयतनम् । भूतं धर्मः । वेदः सूत्रम् । य इदं सम्यग् विजानाति श्रद्धते स ब्राह्मणः इति ब्राह्मणसर्वस्वमाख्यातम् ।

(१३) स ब्राह्मणोऽहं ब्रह्म प्रपद्ये । स पुद्गलं जीवं ब्रह्म प्रपद्ये । स हिरण्यगर्भमीश्वरं ब्रह्म प्रपद्ये । सोऽव्यक्तं परमेश्वरं ब्रह्म प्रपद्ये । सोऽनिर्वचनीयं तुरीयं विशुद्धं ब्रह्म प्रपद्ये ।

॥ इति ब्रह्मपरिभाषा प्रकरणम् ॥

अथ ब्रह्मचतुष्पदी

१ २ ३ ४
प्रजापतिर्जीव उतेश्वरोऽसौ परमेश्वरश्चेति चतुर्भिरेतैः ।
रूपैः परं ब्रह्म विभाति तस्माद् व्याख्यायते ब्रह्मचतुष्पदीयम् ॥

प्रथम परिच्छेदः प्रारभ्यते ॥१॥

शिष्या उपसमेत्योचुः—

१–एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ।
२–चतुष्टयं वा इदं सर्वम् ।
३–षोडशकलं वा इदं सर्वम् ।
इत्येवमनेकधा श्रूयते ॥

तदिदं तत्र भवता व्याख्यातं श्रोतुमिच्छामः इति ॥ तमयमाचार्य्यः प्राह

१–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम ॥
इति भगवान् मेध्यः काण्वः ॥८ ५८।२॥

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन (छन्दो. ६।२।१) ब्रह्मैवेदंसर्वम्
(नृसि. उ. ७।)

२–चतुष्टयं वा इदं सर्वम् । इति भगवान् कौषीतकिराचष्टे ॥
३–षोडशकलं वा इदं सर्वम् । इति भगवान् कौषीतक आचष्टे ॥ (१६।४)

तदिदमखिलं वो व्याख्यास्यामः ॥
एकं हीदं सर्वं, चतुष्टयं वा इदं सर्वम् । (१।४।१६)
षोडशकलं च सर्वं श्रुतमिति तद्दर्शयामोऽत्र ॥
ब्रह्मैवेदं सर्वं यद् भूतं यद् भविष्यं वा ।
एकं तदद्वितीयं रसतः सत्त्वाद् बलानां तु ॥
एकस्मादव्यक्ताद् व्यक्तय एता अथैकस्याम् ।
व्यक्तौ धर्म्मचतुष्टयमनुवर्तत इति हि सर्वत्र ॥

१ २ ३ ४

❀ आत्मा मूर्तिर्जीवनवृत्तिः संस्थानमिति भेदात् ।
सन्ति चतुष्टयरूपा अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः ॥
आत्मा ब्रह्म चतुर्धाव्यतनोत्तस्माच्चतुष्टयं सर्वम् ।

१ २ ३ ४

ꭗ गूढोत्मा शिपिविष्टोऽधियज्ञ एवं विराडिति च ॥
गूढोत्मात्मविभागः शिपिविष्टः पशुमयी मूर्तिः ।
अक्षरमाया तु विराट् अधियज्ञो दैवतोऽग्निषोमीयः ॥
एकः परात्परोऽथाव्ययोऽक्षरश्च क्षरस्त्रयः पुरुषाः ।
इत्थं चतुष्कलोऽयं गूढोत्मा तद्धितं सर्वम् ॥
पुरमेकं तन्महिमालोको वेदो वषट्कारः ।
इत्थं चतुष्कलोऽयं शिपिविष्टः साऽऽत्मनो मूर्तिः ॥
सार्व्यः प्रथमः प्राणो वाच्यो वा भूतदैवत्यम् ।
इत्थं चतुष्कलोऽयं यज्ञस्तेनैव सृज्यते सर्वम् ॥
पञ्च क्षरा विकारा एकैकस्मिन् चतुष्टयाहवनात् ।
सर्वे सर्वात्मकतां यान्ति ततः सार्व्ययज्ञः सः ।
ऋषिपितृदेवप्रमुखाः प्राणाः पूर्वेषु पूर्वेषाम् ।
आहुत्यानुपरेऽमी जायन्ते प्राणयज्ञः सः ॥
सत्वानि स्कन्धावारेणाव एतेऽणवो गुणा इत्थम् ।
भूतान्यणुहवनात्तु स्थूलत्वं यान्ति वाच्ययज्ञः सः ॥

❀		ꭗ			
व्यक्तिः—	ब्रह्म—	१	२	३	४
१–आत्मा	१–गूढोत्मा—	गूढोत्मा—	शिपिविष्टः	यज्ञः	बिराट्
२–मूर्तिः = शरीरम् ।	२–शिपिविष्टः	१–परात्परः	१–पुरम्	१–प्राणयज्ञः	१–भोग्यंजगत्
३–जीवनवृत्तिः = जीवनकालः ।		२–अव्ययः	२–वेदःप्राणः	२–वाग्यज्ञः	२–भोक्ताजीवः
	३–अधियज्ञः = अग्निषोमौ	३–अक्षरः	३–लोकःआपः	३–दैवतयज्ञः	३–नियन्तेश्वरः
४–संस्थानम् = परिवारस्थितिः ।		४–क्षरः	४–वषट्कारः	४–भूतयज्ञः	४–साक्षी
	४–विराट् = माया		वाक्		परमेश्वरः

	आत्म संस्था	आत्म संस्था-गुणव्यूहाः		यज्ञश्चतुर्विधः
१	गूढोत्मा—	परात्परः ॥	अव्ययः । अक्षरः । क्षरः	(१) स्तोमयज्ञः । (३३)
२	शिपिविष्टः—	पुरम् ॥	लोकः । वेदः । वषट्कारः	(२) दैवयज्ञः । (३३) (३) भैषज्ययज्ञः ॥ (४) अन्नभुक्तियज्ञः ।
३	अधियज्ञः—	सार्व्यः ॥	प्राणः । वाच्यः । भूतदैवत्यम्	(१) हविर्यज्ञः (२) ग्रहसुत्या
४	विराट्—	भोग्यम् ॥	भोक्ता । नियन्ता । साक्षी	(३) वाजपेयः (४) राजसूयः
(१)	प्राणः—	ऋषयः । पितरः । देवाः । असुराः । मनुष्याः । गन्धर्वाः पशवः		शब्दाः = आकाशः लोम ।
(२)	वाक्—			स्पर्शः = वायुः ,, ,, त्वक्
(३)	आपः—			रूपम् = तेजः ,, ,, मांसम्
(४)	अन्नम् —	गुणभूतानि । अणुभूतानि । रेणुभूतानि । स्कन्धभूतानि । सत्वभूतानि ।		रसः = जलम् ,, ,, मेदः
(५)	अन्नादः—			गन्धः = पृथ्वी ,, ,, अस्थि

देवेषु भूतवर्गो भूतग्रामे च दैवतग्रामः ।
आहूयतेऽनुवरतं तं ब्रूमो भूत दैवतं यज्ञम् ॥
प्रजापतिस्त्वेष वितायते यद् यज्ञोऽयमस्ति श्रुतिरित्थमाह ।
यज्ञौ त्रयस्त्रिंशकृतौ तु दैव्यस्तोम्यौ च भैषज्यमथान्नभुक्तिः ॥
हविर्ग्रहो वाज उतैष राजा सोमैश्चतुर्भिश्चतुरस्तु यज्ञान् ।
आचक्षते ते त्वधिदैवतं वाऽधिभूतमध्यात्ममपि ध्रियन्ते ॥
भोग्यं च भोक्ता च तयोर्नियन्ता साक्षीति यद् ब्रह्म विराट् चतुष्पात् ।
जगच्च जीवं च तथेश्वरं वा परेश्वरं वेति पृथक् तदाहुः ॥
शश्वदस्ति परमेश्वरोऽमितः संभवन्ति बहवोऽत्र चेश्वराः ।
तेषु जीवनिवहा वसन्त्यमी त्रिष्वमीषु जगदस्ति संश्रितम् ॥
निरिन्द्रियं तावदचेतनं जड़ं जगन्महीरत्नरसोपलादिकम् ।
जीवः शरीरी तु सचेतनोऽखिलः कीटः कृमिः पक्षिपशू च मानुषः ॥
प्रत्यक्ष एष द्विविधो द्विधा पुनः परोक्ष ईशः परमेश्वरोऽप्यसौ ।
प्रजापतिः सोऽस्ति चतुर्विधोऽप्ययं वाजिश्रुतौ श्रूयत एष तद् यथा ॥

(१) यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः । शत. ११।१।६।१७॥

(२) उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास मर्त्यं चैवामृतं च ॥
तस्य प्राणा एवामृता आसुः शरीरं मर्त्यम् । १०।१।४।१।

(३) तद्वै स प्राणोऽभवन्महान् भूत्वा प्रजापतिः ॥
भुजो भुजिष्या वित्वा यत् प्राणान् प्राणयत पुरि ॥१२॥

(४) स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त । शत. ११।१।६।७

१ २ ३ ४	
भोग्यम्—भोक्ता—नियन्ता—साक्षी	जीव, ईश्वरः परमेश्वर इति वैतानिकाः
जगत्—जीवः—ईश्वरः—परमेश्वरः	जगत् जीव, ईश्वर इति दार्शनिकाः

(५) यज्ञः प्रजापतिः । पशवो यज्ञः ॥ शत० ।११।५।७।७

(६) सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः । श० ।५।१।१।८। सर्वं वा इदं प्रजापतिर्यदिमे लोका यदिदं किञ्च । शत० ५।१।३।११।

(७) प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयम्वेतत् । प्रजापतिः—निरुक्तश्चानिरुक्तश्च, परिमितश्चापरिमितश्च ६।४।१।७। बाह्यानिरूपाणि निरुक्तानि भवन्ति । अन्तराण्यनिरुक्तानि । श० ७।२।२।१० प्रजापतिर्वै मनुः । स हीदं सर्वममनुत । प्रजापतिर्वा एतदग्रे कर्माकरोत् ६।४।३।१६ एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाताः । एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते । ५।४।१।२४

यत् किञ्चन प्राणि सहि प्रजापतिः स च द्विरूपोऽमृतसत्यभेदतः ।
प्राणा हि तत्रान्तरतोऽमृता इमे रूपं तथा नाम च सत्यमावृतिः ॥
प्रजापतिः सोयमधत्त चात्मनि प्रजातिमादौ परमेश्वरस्त्वसौ ।
तानीश्वरान् जीवगणान् स ईश्वरो जीवोऽथ जीवाश्च जगच्च सोऽश्नुते ॥
प्रजातिमात्मन्ययमन्यथान्यथा यथा हि धत्तेऽहरहः प्रजापतिः ।
तदुच्यते सम्प्रति विस्तरादिदं यथायमेको बहुधा व्यकल्प्यत ॥

द्विविधश्चतुष्कलः प्रजापतिः ।

यद् दृश्यते किञ्च तदेकमेकं प्रजापतिं विद्धि स च द्विधेष्टः ।
आत्मा पशुभ्योऽन्तरतोऽतिरिक्तः पश्वन्नपुष्टः शिपिविष्ट इष्टः ॥
प्रजापतिर्यो हृदि सोऽनिरुक्तः पशुप्रजावीर्ययुतः स सर्वः ।
देवाः प्रजाभूतचयः पशुः स्यात् सर्वस्त्रिसंस्थः शिपिविष्ट इष्टः ॥

स वै पशुर्यद् बहिरङ्गमिष्टं यदन्तरङ्गं ध्रियते प्रजा सा ।
योऽङ्गी स आत्माऽस्य च कर्म्म वीर्यं प्रजापतिः सर्वविधश्चतुर्भिः ॥
चित्योऽयमग्निः पशुरस्ति मर्त्यश्चिते निधेयस्त्वमृताग्निरन्तः ।
स सर्वदेवोऽस्ति विदुः प्रजां तां यत् त्र्यक्षरं तद्धृदयं स आत्मा ॥
प्रजापतिर्योऽन्तरतः स आत्माऽऽवृतो बहिर्यैः पशुभिर्वपुस्तत् ।
वपुर्विशिष्टः शिपिविष्ट इष्टः शरीरतस्त्वन्यविधिस्तदात्मा ॥
ब्रह्माक्षरस्तावदयं प्रजापतिस्तत्रेन्द्रविष्णू चरतो विरुद्धवत् ।
इन्द्रस्तमुत्क्रामयते क्षिणोत्यमुं विष्णुः कृशं पोषयते पशान्दधत् ॥
पशोश्च[1] भूमानमतश्च पुष्टिं वदन्ति विष्णुं शिपिविष्टमार्य्याः ।
प्रजापतौ विष्णुरयं निषण्णः पुष्टिं विधत्ते पशुभिश्च देवैः ॥
आत्मा प्रजा च पशवो वीर्याणीति प्रजापतेः स्थिते रूपम् ।
तत्रात्मानं ब्रूमो यस्माद्वीर्य-प्रजा-पशवः ॥
षोडशकलः प्रजापतिरित्येवं श्रूयते श्रुत्याम् । (शत० ७।१।४)
कथमिव षोडशकलता तदिदं व्याख्यायते क्रमतः ॥

॥ इति शास्त्रसंग्रहः ॥

विश्वस्यानिरुक्तैकमूलकत्वम् ।

यदेव किञ्चित् क्वचिदत्र दृश्यते जगत् तदाहुस्तदिदं पृथग्विधम् ।
अप्येकमेवैकत एव सम्भवादेकं हि तद् ब्रह्म भवत्यनेकधा ॥
व्याचक्ष्महे ब्रह्म यदस्य मूलं विश्वस्य तद् ब्रह्म तदेकमाद्यम् ।
तदद्वितीयं तदु सर्वमेतन्नातः परं किञ्चिदिहास्ति वेद्यम् ॥
अस्त्येकमेवाखिलविश्वबीजं पश्यामि विस्तारममुष्य विष्वक् ।
अन्योन्यपर्यायविपर्य्ययेण सर्वैकता संप्रतिपत्तिसिद्धेः ॥

---

1 'यः पशोर्भूमा या पुष्टिस्तद् विष्णुः शिपिविष्टः ।'
'शिपिविष्टो वै देवानां पुष्टम्' (तै० १।४।५)
'विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा वीर्यं वै कर्म्म अन्नं वै व्रतम्' (शत० ७।४।१।२५)
'अथ यत् तदन्नम्-एष स विष्णुर्देवता' (शत० ७।४।१।१६।२१)

यथैकमूलात् फलपुष्पपर्णप्रकाण्डशाखाविटपादिसिद्धिः ।
तथैव पश्यामि तदेकभावादनेकभावोदयनेन विश्वम् ॥
शारीरभावा हि यथैकरेतोबिन्दोरभूवन् बहुधा विभिन्नाः ।
कुतो विभेदः कथमेकबिन्दोर्विभिन्नभावा इति को नु विद्यात् ॥
यद्रेतसश्चक्षुरभूत्ततोऽभूच्छ्रोत्रं च वाक् चेति विशेष एषाम् ।
कस्मात् कुतश्चक्षुरिवान्यभावा न कर्म्म कुर्युस्तदचिन्त्यमेतत् ॥
यावद्यथावत् पुनरस्य रूपं याः शक्त्यश्चक्षुषिताश्च सम्यक् ।
वेत्तुं कथंचित्प्रभवाम यत्नात् परन्तु रूपं तदचिन्त्यमेव ॥

विश्वमूलैकत्वोपपत्तिः

प्राहैतरेयो भवतीह रेतः प्रत्यङ्गतः सम्भृततेजसस्तत् ।
तद् भ्रूणकीटाङ्गविकाशतोऽयं मनुष्यदेहो भवतीति मन्ये ॥
सृष्टेर्यदादौ प्रथमं शरीरं न तत्पितुर्जातमतोऽभविष्यत् ।
अमिश्रितद्रव्यजमेतदेकं किन्त्वस्ति सृष्टेर्न कदाचिदादिः ॥
वृक्षस्य बीजं ध्रुवमन्यवृक्षाज्जातं न निर्बीज उदैत् स वृक्षः ।
तच्छुक्रवद् बीजमपि द्रुमाणां प्रत्यङ्गसारोद्धृतरूपमेव ॥
रेतो यथासृक्पललास्थिमज्जोपादानभूताणुसमूहरूपम् ।
मूलं यथा वा फल-पुष्प-पर्ण-प्रकाण्डशाखाद्यणुभूतकूटम् ॥
तेषां विकाशेन यथैव देहा इमे च वृक्षा बहुलाङ्गपूर्णाः ।
भवन्ति तद्वद् बहुसूक्ष्मनानाकलानिवेशैर्ब्रह्मण एष सर्गः ॥
एवं नवीनाः प्रतियन्ति केचित् किन्तु प्रतीमो न तथा कदाचित् ।
अयोनिजानां वपुषि प्रभिन्ना भावा भवन्तीह समानभावात् ॥
वृक्षस्य बीजे च न सन्ति वृक्षाखिलाङ्गसूक्ष्मावयवा यथावत् ।
सवृन्तपत्रद्वयमात्रमत्र प्रतीयतेऽन्तर्वृगलं निगूढम् ॥
यद्येकजातेर्बहुजातिसिद्धिः प्रदृश्यते तर्हि कुतो न तस्मात् ।
स्युरेकतो ब्रह्मण एव सर्वे भिन्नाः पदार्था बहुशक्तिभाजः ॥
अलन्तु दृष्टान्तपरम्पराभिर्न ब्रह्मणा तुल्यमिहास्ति किञ्चित् ।
सृष्टेरपूर्वा रचनास्ति तस्यां कः सम्भवासंभवयोः प्रसङ्गः ॥
मूले न सृष्टा नियमा न मूले द्वित्वादिभेदा इह सृष्टिरूपम् ।
स जातिभेदः परजातिभेदः स्वाङ्गप्रभेदश्च न मूलतः स्यात् ॥

अन्यान्ययोगादिव तत्र यद्वन्नानाविशेषाः प्रभवन्ति मूलात् ।
इहान्ययोगाननपेक्ष्य तद्वत् सर्वे विशेषाः स्युरयं विशेषः ॥
तत्रैवमत्रैवमयं विशेषः कस्मादिवास्तीति न तर्कनीयम् ।
विद्याद्यथारूपमचिन्त्यभावान्न चैव तर्केण तु योजयेत् तान् ॥
अत्रैकभावाद्बहुभावसिद्धिः कुतो बभूवेति न सम्प्रतीमः ।
यथैकभावात्तु भवन्ति नानाभावास्तदेवात्र विभावयामः ॥

विश्वमूले ब्रह्मशब्दः ।

विश्वस्य तूलस्य यदस्ति मूलं तस्यैव चैकस्य तु बृंहणेन ।
पश्यामि विश्वं तत एव मूलं तद् ब्रह्मशब्देन सदा वदामि ॥
स्वयद् विभुत्वान्न ततः परं बृहत् नान्यच्च सर्वप्रसुवोऽस्ति बृंहणम् ।
बृहत्सदा यत्परिबृंहणं च यत्तदुच्यते ब्रह्म जगद्यतोऽभवत् ॥
सर्वं भूतं यत्र बिभर्त्ति वा समं सर्वं यतो वा भ्रियते बहिर्नहि ।
तद् ब्रह्म सर्वस्य हि तस्य चक्षते बुधा विपर्य्ययस्य तु भर्मणो हरौ ॥
नाम्नां यथा वागथ रूसंहतेश्चक्षुर्यथाऽऽत्मा पुनरात्मकर्म्मणाम् ।
तथा यदुक्थं यदु साम दृश्यते, तद् ब्रह्म विद्यादिह विश्वकर्म्मणाम् ॥
अबोध्यमस्तीति हि तस्य बोधोऽनिरुच्यमस्तीति च तन्निरुक्तिः ।
सर्वे विरोधा अवरोधमस्मिन् गतास्तथा हि ब्रुवते कवीन्द्राः ॥
यस्यामतं तस्य मतं तु मन्ये मतं तु यस्यास्ति न वेद तत्सः ।
अज्ञातमेतत्खलु जानतां स्यादजानतां ज्ञातमिति ब्रवीमि ॥

अविज्ञातरूढे परात्परशब्दः ।

अज्ञाताविकृतौ द्वौ वैकारिकयौगिकौ च द्वौ ।
योगश्चेति निरूढो व्यूहानुव्यूह इत्यन्यः ॥
नाम्ना परात्परोऽयं पुराणपुरुषः पुरं च महिमानः ।
तत्राथ यज्ञपुरुषा यज्ञैर्यज्ञा विराट्पुरुषाः ॥
रूढा इत्थं व्यूढाः षोढा स्युर्ब्रह्मणः संस्थाः ।
सत्यानि तत्र पुरुषा ऋतानि चान्यानि कथ्यन्ते ॥
यः सच्चिदानन्द इति प्रसिद्धोऽव्ययः परात्मा परितो विभाति ।
ततोऽप्ययं यत् परतः प्रतीतः परात्परात्मेति स उच्यतेऽत्र ॥

दिग्देशकालावच्छेदप्रतिषेधः परात्परे ।
अमृतं तदनन्तं च तदपर्य्यन्तमिष्यते ॥
सर्वाणि नामान्यपि सर्वकर्माण्यशेषरूपाणि च तस्य सन्ति ।
सर्वैश्च रूपैरयमेव तैस्तैः सर्वाणि कर्म्माणि करोत्यमूनि ॥
नामानि नामास्य च कर्म कर्म्माण्यशेषरूपाणि च तस्य रूपम् ।
सत्यं ततस्तत् प्रवदामि कार्त्स्न्यात्पूर्वं तदस्तीति निरूपयामि ॥
यतो नु सर्वं प्रबभूव यत्र व्यावर्त्तते सर्वविधं वदन्ति ।
अनन्तमृत्यूपचितामृतं तद् विश्वं च विश्वातिगतं च विद्यात् ॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् भूमाणिमा चेत्युभयस्वरूपः ।
परात्परो नाम स एक आत्मा विद्यादविज्ञातनिरूढमेनम् ॥
किं नाम किं कर्म्म किमस्य रूपं विशिष्य तत्र प्रतिपत्तुमंशे ।
अज्ञेयताऽनिर्वचनीयता वा तस्मादिहोक्ताऽस्य परात्परस्य ॥
रसस्य वा बलस्य वा स्वरूपलक्षणं द्विदम् ।
निषिध्यते न हीयते तटस्थलक्षणं पुनः ॥
अशेषनानाबलभृत् स एकः परात्परो नाम निधिर्बलानाम् ।
यद् वक्ष्यते किञ्चन तत्समस्तं तत्रैव जातं स्थितमप्यपीतम् ॥
परात्परं चाव्ययमक्षरं क्षरं नित्याविनाभूतमिहैकवत् स्थितम् ।
गूढोत्मनाम्नोपचरन्ति तं विभुं पुरे निगूढं हि न पश्यति स्फुटम् ॥
पञ्चाव्यये पञ्चकला उताक्षरे पञ्चक्षरे ताश्च समं परात्परे ।
तदित्थमात्मैष पुराणपूरुषो धत्ते कलाः षोडश ता इति स्थितिः ॥

अवैकारिकरूढं पुरुषत्रयम् ।

अवैकारिकरूढो यो व्यूढः स हि पुरञ्जनः ।
त्रयोऽत्र पुरुषा रूढा अव्ययश्चाक्षरः क्षरः ॥
परात्परो योऽयमसीम आत्मा मायाबलोपाधिवशात्तु तस्मिन् ।
भावा मिता यान्त्युदयं त एते नानात्वमौपाधिकमाश्रयन्ति ॥
परात्परं ब्रह्म समानमेतत् ततोऽभवंस्ते पुरुषा विशेषाः ।
क्षरोऽक्षरश्चाव्यय इत्यवेयादेतानवैकारिकरूढभेदान् ॥
विश्वं क्षरं तद्व्यवरं परावरोऽक्षरः स सेतुः परमेतदव्ययम् ।
विश्वातिगं तेषु न चान्यदन्यतो विनाकृतं तत्त्रयमेकवत्स्थितम् ॥

नेहाव्ययं कार्य्यमथो न कारणं यदक्षरं तत्तु निमित्तकारणम् ।
क्षरं तु विद्यात् समवायिकारणं त्रिभ्यो न चैभ्यः पृथगस्ति किञ्चन ॥

परं ब्रह्माव्ययं विद्यात् परमं ब्रह्म चाक्षरम् ।
केवलाद् ब्रह्मशब्दात्तु क्षर आत्मा विधीयते ॥
यद्यपि त्रयमव्यक्तं क्षरमक्षरमव्ययम् ।
तथापि त्वविशेषोक्तावव्यक्तं विदुरक्षरम् ॥

अव्ययः पुरुषः

आहुः परे त्वत्र यदस्ति किञ्चित् तत्सर्वमेवाव्ययतोऽस्ति जातम् ।
तत्सक्षरेणाव्ययमक्षरेणाव्यक्तेन सर्वं तनुते स्वदेहे ॥
विद्या च कर्म्म च तदव्ययमर्द्धमर्द्धं नान्योन्यतो व्यभिचरत्युभयं कदाचित् ।
अन्योन्यतोऽप्युपकरोति तयोः स्वरूपं नान्योन्ययोगमनपेक्ष्य कदापि सिध्येत् ॥
एकैकमेदुभयं त्रिकलं प्रसिध्यत्यानन्दबुद्धिमनसां निचयोऽस्ति विद्या ।
वाक्प्राणबन्धन इति त्रिकलं तु कर्म प्राहुर्मनस्तदुभयत्र समं विभाति ।
नर्ते मनःक्वचिदपि प्रतिभाति विद्या नर्ते मनः क्वचिदपि क्रियते तु कर्म्म ।
सन्ध्यं मनस्तदुभयोरपि रूपमाहुस्तेनाव्ययं भवति पञ्चकलं प्रसिद्धम् ॥
श्वोवसीयसमिदं मनो विदुस्तैत्तिरीयसमये ततोऽखिलम् ॥
विश्वमेतदवभाति विद्यया कर्म्मणा त्वहरहो विवर्त्तते ॥
आनन्दो, विज्ञानं, प्राणो, वाग् मध्यतस्तु मनः ।
इत्थं पञ्चकलं स्यादव्ययमालम्बनं जगतः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदये सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्द रूपममृतं यद्विभाति । (मुण्डक)
आनन्द विज्ञानमनांसि मुक्त्यै अन्यत्र वाक्प्राणमनांसि सृष्ट्यै ।
संसारकृद् वाक्प्रमुखं त्रिसत्यं निस्तारकृत् तत्र परं त्रिसत्यम् ।

सृष्टि—त्रिसत्यमव्ययम् ।

इदं समस्तं त्रिविभक्तमीक्ष्यते ह्यर्थः क्रिया ज्ञानमिति प्रभेदतः ।
त्रीण्येव मूलानि भवेयुरीदृशां तान्येव वाक्प्राणमनांसि चक्ष्महे ॥
मनोस्ति निर्लेपमसङ्गमक्रियं तथाऽनवच्छिन्नमिदं दिगादिभिः ।
प्रकाशस्वरूपप्रविणं विकस्वरं सूक्ष्मान्वितात्रस्थ जगच्च कामवत् ॥

प्राणः क्रियावांश्च विधारकोऽर्थवानासञ्जनो बोद्धमना विसृत्वरः ।
मनोनियुक्तोऽस्वपनो बलाधिपो गतव्यथः संक्रमणश्चराचरः ॥
वाक्स्थानरोधप्रसरा विकारिणी प्राणग्रहोत्सर्गपरा च नाभियुक् ।
मूर्त्ता च वैशेषिकधर्मशालिनी पृथुत्वभाक् सायतना दिगुम्भिता ॥
प्रज्ञा मनो धीरयमर्थ एकः प्राणो बलं चासुरिमे समार्थाः ।
वाग्व्योम भूतादि रयिश्च तुल्या रूपं यदेषामपृथक् स आत्मा ॥
सृष्टि त्रिसत्यं तदिदं प्रतीयात् त्रयं यदान्वेति तदास्ति बुद्धिः ।
सत्यस्य सत्यं मनआहुरेतत् प्राणा हि सत्यं तदतोऽपि सत्यम् ॥
प्राणोऽसदुक्तः सदसन्मनस्तद्वाचं सदित्याहुरिमाश्च संज्ञाः ।
प्राणश्च वाक् चेति मनःस्वरूपं तद्भिन्नमस्तीव नवेत्र सौक्ष्म्यात् ॥
तत्सद् गृहीतं बहिरिन्द्रियेण यद् दिग्देशकालैः प्रमितं च यद्भवेत् ।
एतद्विरुद्धं त्वसदिष्यते यदि द्वैधं क्वचित्स्यात् सदसत् तदुच्यते ॥
मनोमयं प्राणमयं च वाङ्मयं तत्कारणं न व्यतिरिच्यते त्रिभिः ।
कार्यं च तस्मात्त्रिविधं प्रवर्तते ज्ञान क्रिया चार्थ इति प्रभेदतः ॥
अज्ञौ स्वरूपेण यथा क्रियार्थौ तदर्थः स तथाक्रियो स्तः ।
ज्ञानक्रिये स्थानमिहावरुन्धो न चार्थवत् ते च मिथोन्विताः स्युः ॥
क्रियामयं चार्थमयं समस्त ज्ञानं क्रिया ज्ञानकृतार्थनिष्ठाः ।
अर्था भवन्ति क्रियया धिया च रूपे त्रयाणां त्रयमन्वितं स्यात् ॥
प्रज्ञातमेव त्वियमुच्यते वाक् श्रद्धीयते प्राणमहत्त्वतः सा ।
प्राणाल्पतायां च मनोल्पतायां विलुप्तवद् बालकवच्च सा वाक् ॥
अर्था विभान्तीति वितानमेतत् मनो ब्रुवन्नर्थमुपैति सा वाक् ।
यदन्यदन्यत् क्रमशो विभाति प्राणः स इत्थं त्रिचितं मनः स्यात् ॥
सर्वं हितं वाचि मनस्यपीदं कौषीतकीया यदिति ब्रुवन्ति ।
प्राणोऽपितत्र प्रतिपत्तिमेयात् प्राणं विना वाक् च मनश्च नास्ति ॥
मनो यदि स्याद् ध्रुवमत्र वाक् स्यान्मनो ध्रुवं स्याद्यदि वागुदेति ।
प्राणो यदि स्याद् ध्रुवमत्र वाक् स्याद् ध्रुवं मनः स्यात्त्रितयं सह स्यात् ॥
सहैव सर्वेऽप्युदयं लभन्ते सहैव सर्वेऽपि वसन्ति नित्यम् ।
नित्यं मनः प्राणमयं च वाचं तिष्ठत्यधिष्ठाय तदङ्गभावात् ॥
मनोभिमानित्वखिलार्थनिष्ठं प्राणस्त्वधिष्ठातृतयार्थनिष्ठः ।
वागस्त्यधिष्ठानमिति त्रयाणामेकव्यपाये त्रितयं व्यपैति ॥

प्राणस्य तु ब्रह्म मनोऽथ वाचः प्राणोऽथ वाग् ब्रह्म तु कर्म्मणां स्यात् ।
यत्राश्रितं येन भृतं भृतो वा विवर्द्धते ब्रह्म तदस्ति तस्य ॥
प्राणं विदुः क्षत्रमथो विशं विदुर्वाचं मनो ब्रह्म विदुस्त्रिके गणे ।
प्राणो हि वाचः प्रथते नियोजकः प्राणस्य चेदं हि मनो नियोजकम् ॥
ब्रह्माथ विट्क्षत्रपेत्य यद्वत् स्थितिं लभेतेह तथा मनो वा ।
वाग् वाश्रय प्राणमुपेत्य नूनं स्थिति लभेते स वसिष्ठ एषाम् ॥
सोमोऽयमासीन्मनसोऽयमग्निः प्राणादथापो बभुरत्र वाचः ।
सोमादभूच्चन्द्रमसस्तु पिण्डः सूर्योयऽमग्नेः पृथ्वीयमद्भ्यः ॥
यत्सृज्यते तत्त्रिकमेव साकं ह्यन्नादमन्यावपनं तदन्नम् ।
न क्षीयतेऽन्नं न निरन्नमन्नात् स्यात्तद्वय चावपनप्रतिष्ठम् ॥
❀
मनो भवेदावपनं विपत्तत् प्राणस्तथान्नाद इति प्रसिद्धः ।
वगन्नमित्थं त्रितयं प्रतीयात् प्राणोऽयमश्नाति परस्य वाचम् ॥
इच्छानुवृत्तिर्मनसस्तपस्तु प्राणस्य वाचः श्रम इत्यवेयात् ।
इच्छन् हि तप्येत स तप्यमानः श्राम्यत्यतः सिध्यति कर्म्म तस्य ॥
यदान्तरं कर्म यमाह यत्नं दत्तं यमाहाध्यवसायमाह ।
तपस्तदुक्तं श्रमशब्दतस्तु चेष्टां ऋतुं च व्यवसायमाह ॥
+
यत् स्वं ददातीति तपः प्रविद्यादित्थं श्रुतिः प्राह न तद्विरोधः ।
तप्यन्निजं प्राणमिह स्वकाम्ये लक्ष्य क्षिपत्यस्य ततोऽर्थलाभः ॥

अक्षर पुरुषः

ततोऽक्रियः सोऽव्यय एष सर्वाधारोऽक्षरेणाधिकारोति सृष्टयै ।
ऋतेऽव्ययान्नास्ति यतोऽक्षरोऽयं स्रष्टा स एषोऽव्यय एवतस्मात् ॥

---

* आवपनं बीजावापक्षेत्रम् (तै०ब्रा०भा० १।१।६।८) मनसि प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठिते यदुप्तमन्नं तद्बीज प्राणेनान्नादेन सह संयुज्य वाचं सृजति तत्फलम् । आवपने आकाशशब्दः आकाशस्यैव सर्वावापस्थानत्वात् ।

१-वाचि चवै मनसि चेदं सर्वं हितम् । (कौ० ६।३)

+ एतत्खलु वा व तप इत्याहुर्यत् स्वं ददातीति (तै० सं० ६।१।६।३) कद्रुसुपर्णा स्थाने ।

पञ्चाक्षरा अव्ययसन्निविष्टा ब्रह्मेन्द्रविष्णू अपि चाग्निसोमौ ।
विद्यापराः कर्म्मपराश्च तेऽमी तेषां तपोज्ञानमयं समस्तम् ॥
श्राम्यन्ति तप्यन्ति च कामयन्ते यथा यथा ते सहसन्निविष्टाः ।
यदैव विश्वं भवतीति पाङ्क्तं तद्विश्वविद् विश्वकृदित्यवेयात् ॥
आनन्दविज्ञानघनाः समस्ते सर्वत्र वाक्प्राणमयोमयास्ते ।
ज्ञानक्रियार्थान् घनयन्ति विश्वं दृष्ट्वा प्रसीदन्ति नितान्तशान्ताः ॥
क्षरान् विकुर्वन्ति ततः क्रियन्ते संज्ञाश्च चेष्टाश्च विधाश्च सर्वाः ।
वाचोविधाः प्राणत एव चेष्टाः संज्ञा मनस्तोऽत्र समन्विताः स्युः ॥

क्षर–पुरुषः

... ...
... ...
... ...
... ...

इति चतुःकलो गूढोत्मा ।

वैकारिकरूढश्चित्यः पुरस्कन्धः ।

वैकारिकास्तान् कथयामि रूढान् प्राणो मनो वागिति ते त्रयं स्युः ।
ऐकात्म्यमेषामविनाभवत्वात् त्रिपुरुषो यः पुरुषः स एकः ॥
यद् वैकारिकरूढं तु व्यूढं पुरमणूदितम् ।
तत्र प्राणोऽथ वागापोऽन्नादोन्न रूढपञ्चकम् ॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णू अपि चाग्निसोमौ क्षरा अमी अक्षरसञ्ज्ञयोक्ताः ।
तत्राक्षरेऽस्मिन्नमृतेऽनुषक्तं यन्मर्त्यमर्द्धं क्षरमेतदाहुः ॥
यथामृतं मर्त्यमिति द्विभागं प्रत्येकमस्त्यक्षरमर्द्धमर्द्धम् ।
तत्राक्षरे यावदिमेऽनुषक्तास्तावत् क्षरास्ते क्षरवत् प्रतीताः ॥
मर्त्यं तदव्यक्तमिहामृतेनाविशिष्टमस्मात् क्षरतोऽस्ति सृष्टिः ।
तत् प्रागवैकारिकरूढमिष्टं यत्कारणावस्थतया गृहीतम् ॥
अव्यक्तमत्राक्षरमाहुरार्य्या अव्यक्तमेवाक्षरगं क्षरं तत् ।
व्यक्तिं तदव्यक्तमुपैति विश्वं तदेतदव्यक्तमथान्ततः स्यात् ॥

विकुर्वते तेऽहरहः स्वभावतः पञ्चाऽपि कात्स्न्यां परिणामिनः क्षराः ।
ते पञ्च वैकारिकरूढसंज्ञका विशुद्धपञ्च कृतभेदतो द्विधा ॥
प्राणश्च वागाप उतान्नमन्नादिति क्षरा अक्षरमर्त्यभागाः ।
प्रजापतीन्द्रौ परमेष्ठिविष्णू सोमं तमग्निक्रमतः प्रविद्यात् ॥
प्राणे हिते त्वाहितास्ति सा वाग् वाच्यापि आस्वप्सु चितोऽयमन्नात् ।
अन्नं च तस्मिंश्चिनयन्तदित्थं पञ्चापि कुर्वन्ति पुरं पुरैताः ॥
एषां यदेकात्मतया निबन्धाद् व्यूहः क्रमो भाति पुरं तदाहुः ।
पञ्चाक्षरास्तत्र पुरे निसर्गात्सज्जतेऽभ्यत्र यमाशु सत्यम् ॥
व्यूहः क्षराणां पुरमक्षरेणाव्ययेन सम्पन्नतमोऽच्युतेन ।
पञ्चामृते तत्र पुरे वसन्तीत्यतोऽक्षरांस्तान् पुरुषान् वदामः ॥
रूपं मनो नाम तु वाग्धि कर्म प्राणोऽव्ययात् तत्त्रयमभ्युपैति ।
यत्कर्म तद्रूपमतोऽस्य नाम प्रभिद्यते व्यक्तिरियं त्रिभिस्तैः ॥
एतत् त्रयं सत्यमतोऽमृतं तच्छन्नं प्रतिव्यक्ति विभाति नित्यम् ।
सत्यस्य सत्यादपि सत्यलोकात् तदव्ययादेति ततोऽस्ति सत्यम् ॥
सर्वत्र पञ्चामृतमेव रूपं प्राणः स वागाप उतान्नमन्नात् ।
नाम्ना च रूपेण च कर्म्मणा तद् भिन्नेन भिन्नं प्रतिभाति लोके ॥
श्राम्यन्ति तप्यन्ति च कामयन्ते पञ्चाक्षरा भिन्नवदत्र तस्मात् ।
तद् भिद्यते कर्म्म ततश्च रूपं ततश्च नामेति पदार्थभेदः ॥

आनन्दो विज्ञानं सत्ता चेति त्रयो धर्माः ।
विद्या कर्म्म च धर्म्मौ द्वावव्ययतः पुरे सन्ति ॥
आनन्दाद्या विद्या कर्म्माणि तु कर्म्मरूपनामानि ।
न च तत्पुरं यदेभिर्धर्म्मैः शून्यं कदाचित्स्यात् ॥

पञ्चीकृतैस्तैरिह पञ्चभिः क्षरै रूपं यदेकं प्रणिधीयते युतैः ।
पुरं तदात्मावरणं तदव्ययावलम्बितं ह्यक्षरसंभृतं क्षरम् ।
त्रिपूरुषो यः पुरुषः पुराणः पुरञ्जनो नाम पुरं ततोऽभूत् ।
पुरं तदात्मायतनं पुरेऽस्मिन् वसन् शरीरे पुरुषः स उक्तः ॥
पुरप्रभेदात् पुरुषाः प्रभिन्नास्तन्त्रायिनस्तेऽत्र पृथक् पृथक् स्युः ।
स एक एकः पुरुषोऽत्र सर्वो भूतं च भव्यं च तमेव विद्यात् ॥

योगरूढश्चित्यो महिमस्कन्धः ।

पुरस्य पोषो महिमासहस्रं पुरं महिम्ना ध्रुवमन्वितं स्यात् ।
सृष्टं पुरं ब्रह्म बहि समन्तात् संसृज्यते पोषकृता महिम्ना ॥
ब्रह्मा पुरं तावदियं प्रतिष्ठा तत्रेन्द्रविष्णू सह संरभेते ।
इन्द्रः पुरं च्यावयते स यावत् तावत् पुरं पोषयते स विष्णुः ॥
विद्युत् स इन्द्रोऽनुपलं पुरं तद् विस्फोटयन्नेव परैति नाभेः ।
समन्ततोऽन्नान्यनुकृष्य विष्णुर्भिषज्यतीदं पुरमन्यविद्युत ॥
इन्द्रश्च विष्णुश्च परस्परं प्रति स्पर्द्धागतौ ब्रह्मणि तुल्यमञ्जतः ।
अग्निश्च सोमश्च परस्परं प्रति स्पर्द्धागतौ सम्भवतः समं तयोः ॥
पुरं महिम्नाऽनुयुनक्ति नित्यं समन्ततः स्यान्महिमा पुरस्य ।
सहस्रसंज्ञो महिमा त्रिधाऽयं लोकाश्च वेदाश्च वषट् क्रिया वाक् ॥
सोमोच्चरत्तद्गतवाग्विकाराः समन्ततः सप्त भवन्ति लोकाः ।
वेदास्त्रयोग्निश्रितवाग्विकाराः स्रवन्त ऋक्सामयजूंषि तत्र ॥
ये स्वचराः पञ्च तदाश्रयेण प्रादुर्भवन्तस्त्विह वाग्विकाराः ।
स्तुता वषट्कारपदेन संस्थास्तास्त्वेव भूतानि च दैवतानि ॥
प्रजापतिः प्राणमयं पुरं स्यात् प्रजापतेः स्वो महिमाऽस्ति या वाक् ।
लोकाश्च वेदाश्च वषट् च तस्याः सोमाग्नियोगात् परिणामभेदाः ॥
'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥
(छा० २।२१)

वेदा लोकाश्च देवाश्च दिश्या अपि समुद्रियाः ।
प्रजापतेरिमे पोषाः पञ्चाप्येते त्रयस्त्रयः ॥
तत्र तावत् त्रयो वेदा ऋग्यजुःसामनामभिः ।
पृथ्व्यन्तरिक्षं द्यौश्चेति त्रयो लोका विशेषतः ॥
अग्निर्वायुस्तथाऽऽदित्य इति देवा इह त्रयः ।
नक्षत्राणि त्रयो दिश्या वयांसि च मरीचयः ॥
त्रयाः समुद्रियाः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तथा ।
एतानि भक्तिर्ब्रह्माणि संसज्जन्ते प्रजापतौ ॥
स्वयंभूभक्तयो वेदा लोकास्तु परमेष्ठिनः ।
सूर्य्यस्य भक्तयो देवाः सोमस्यापां ततः पराः ॥

एताः कलाः पञ्चदश षोडशिन्यात्मनि स्थिताः ।
तेनैव षोडशकलः पुरुषो यः प्रजापतिः ॥
छान्दोग्योपनिषच्छ्रुत्या द्वितीये तु प्रपाठके ।
एकविंशे त्विमाः खण्डे कलाः पञ्चदशोदिताः ॥

यौगिकरूढश्चित्यो महिमस्कन्धः ।

प्रत्येकमेषां नियतं महिम्नां चतुष्टयं सम्भवति स्वभावात् ।
लोकाश्च वेदाश्च विशश्च यज्ञा आत्मानुयुङ्क्तेऽनृतिभिः सदाभिः॥
सोमोऽक्षरस्तद्रुतवाग्विकाराः समन्ततः सप्त भवन्ति लोकाः ।
वेदत्रयोऽग्निश्रितवाग्विकाराः प्लवन्त ऋक्सामयजूंषि तत्र ॥
ये चाग्निसोमोभययोगसिद्धा देवाश्च भूतानि च ताः प्रजाः स्युः ।
देवा मनुष्याः पितरोऽसुरा वा ग्रहर्षिगन्धर्वपशुप्रभेदाः ॥
अथाग्नि सोमाहुतयस्तु यज्ञा यज्ञात्ततोऽन्नं पुरुषस्य विश्वात् ।
प्रवर्तते यावदयं नु यज्ञः कलेवरे तिष्ठते तावदात्मा ॥

वषट्कारः ।

इन्द्रोऽयमुत्क्राम्यति तत्प्रयोगाद् ब्रह्मा च विष्णुः सह संक्रमेते ।
विदुश्चतुस्त्रिंशदहानि तानि तां एव गावश्च सहस्रसंख्याः ॥
त्रिंशद्गवामेव महस्तदह्नां स्तोमोऽस्ति षण्णामथ षड्भिरेतैः ।
स्तोमैर्वषट्कार उदेति सेयं वाक् सर्वतोऽह्नोऽग्निपुरं तदन्तः ॥
त्रिविक्रमो विष्णुरिहैकविंशं यावत् त्रयस्त्रिंशतमिन्द्र एति ।
ब्रह्मा चतुस्त्रिंश इहार्धमर्धं सोऽग्निः स सोमोऽक्षरपञ्चकं तत् ॥
सहस्रधा पञ्चदशान्युकथा यावद्द्यावापृथिवी तावदित् तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥
वेदो हृशि प्राप्य मनोऽनुषङ्गाज् ज्ञानं सृजत्येवमिवैष यज्ञः ।
यज्ञान्तरादन्नमुपैति यत् स्वं ददाति तस्मात् भवति क्रियार्थे ॥
प्रज्ञाविकारोऽन्यसतोऽन्यथात्वं स चेद् विकारोन्यऽमुपक्रमं येन् ।
अन्यानि वाक्प्राणमनांसि धत्ते सोऽन्योऽर्थ उत्पद्यत एव आत्मा ॥
वाचोविकाराः प्रभवन्ति रूढा वैकारिका ये बहुधा विभिन्नाः ।
संसर्गवैचित्र्यवशादमीषां पूर्वोपमर्दादितरे भवन्ति ॥

अपां च वायोश्च परस्परेणोपमर्द्दतः केन उदेत्यपूर्वः ।
स मृत्कणो यौगिकरूढ उक्ता रूढत्वमस्मिन् सयुजामदृष्टेः ॥
भूतानि पञ्चेह गुणाणुरेणूपाख्यानि रूढानि तु तावदत्र ।
गुणा अपिण्डा रसरूपशब्दस्पर्शाः सगन्धा अणवस्तु सूक्ष्माः ॥
पञ्चीकृतानां तु कणो यदाद्यो रेणुः स भूम्यग्निजलादिकानाम् ।
लोष्टाश्मवत् स्कन्धनिभानि केशास्थ्यदीनि जैवानि च यौगिकानि ॥

इतिलोकसहस्रम् ।

... ...
... ...

वेदसहस्रम् ।

... ...
... ...

वेदस्वरूपम् ।

अधिकरणानां भेदात् प्रत्यधिकरणानि सन्ति भिन्नानि ।
वेदो मनसि प्राणे यज्ञो वाचि प्रजाः प्रोताः ॥

*

वेदाः स्वरूपं त्रिभिरस्य वेदैः प्रजापतेर्जीवनमस्ति यज्ञः ।
कर्मास्य नित्यं जननं प्रजानां प्रति प्रजापत्यवधेयमित्थम् ॥
मूर्तौ च मूर्तिश्च महिम्नि वेदास्त्रयः समन्तात् प्रथितास्तथाहि ।
ऋङ्मूर्तिरेतस्य शिरस्तु सामोदरं यजुः प्राह कहोड इत्थम् ॥

+

यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्तिरव्ययः ।
स ब्रह्मेति स विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो हान् ॥ (कौ० उ० १ विद्या)

÷

वेदस्य ऋक्सामयजूंषि भेदा वेदास्त एते प्रथितास्त्रयोऽपि ।
वेदप्रभेदास्त्रिविधा रसश्च[1] छन्दो[2] वितानश्च[3] पृथक् त ऊह्याः ॥

प्रजापतेः					
१ स्वरूपम् वेदः	मनसि	+	१ अव्ययोऽमृतात्मा	÷	१ ऋग्वेदः–छन्दः
२ जीवनम् यज्ञः	प्राणे		२ ब्रह्म भोक्तात्मा		२ सामवेदः–वितानः
३ कर्म्म प्रजाः	वाचि		३ महान् सत्त्वात्मा		३ यजुर्वेदः रसः

छन्दांसि सर्वत्र ऋचः स्युरेवं सर्वत्र सामानि बहिर्वितानाः ।
छन्दांसि येषां परितो वितानास्तेऽमी रसा एव यजूंषि सन्ति ॥

रसवेदाः ।

() अग्निर्महोक्थं च महाव्रतं च त्रयो रसाख्या इह सन्ति वेदाः ।
महाव्रतं साम महोक्थमृक् स्यादग्निर्यजुः स्यादिति ते पृथक् स्युः ॥
+
यमत्र पश्यामि स नूनमग्निः स स्तूयते तस्य रसोऽप्रमाणात् ।
परन्महोक्थं यदमुष्य देवाः स्तस्य पूर्त्यै नु महाव्रतं तत् ।
÷
कृत्स्नोयमग्निः पुरुषोऽस्ति तद्यजुर्यश्चीयते यश्च चितेनिधीयते ।
आदित्य एवाग्निरयं स उत्तमोऽस्त्यग्नी यतो मध्यमपार्थिवाविमौ ॥
संवत्सरो वायुरयं च देवताः सूर्याद् भवन्तीति वदन्ति केचन ।
यज्जूर्यजुर्वायुरिहाग्निरस्त्यसावित्थं तु शाकायनिनः प्रचक्षते ॥

रसवेदाः
१—महोक्थम्-मण्डलम्-ऋक्
२—महाव्रतम्-अर्चिः-साम
३—अग्निः-पुरुषः-यजुः

\+

अग्निरेव त्रयो वेदाः

÷

अग्निपरीक्षा

() रसे बलविशेषोदयात् प्रथमजे प्रतिष्ठावी यमजायत-ब्रह्म । ततो भूयांस्यमृतमृत्युमथानि रूपाण्युदतिष्ठन् तस्मात् तदुक्थम् । उत्थिते चैतेषु रूपेष्विद साम्येन विभवति तस्मात् तत् साम । उत्थितानि चैतानि सर्वाणि रूपाण्यात्मनि बिभर्तीति तद् ब्रह्म । तद् यजु पूर्वं प्रतिष्ठा ब्रह्मासीत्-तद् ऋतम् । ततो यजुर्ब्रह्माभवत्-तत् सत्यम् । उक्थं साम ब्रह्मेति रूपत्रयमेक आत्मा स उग्मुग्धरूप ऋतमासीत् । अथोद्बुद्धरूपत्रयः सत्यमभवत् ऋतं सोमः । सत्यमग्निः ॥ १ ॥ अथेदं यजुब्रह्म द्वेधा रूपमाधत्ते यच्च जूश्च । तावेतौ पुनरन्याग्नीषोमौ गतिस्थितिलक्षणौ वाय्वाकाशौ ॥ ॥ स एष सोममयो यजुर्नामाग्निस्त्रिवृद्रूपं धत्ते-आवपनम् अन्नादः अन्नं चेति तदिदं त्रयम्—

अव्ययं—अक्षरं क्षरं चेत्याख्यायते । तदित्थं त्रेधा विभक्तमिदं यजुर्ब्रह्मैव पुरुषोऽग्निः । अव्ययावपने तिष्ठदक्षरं नोदनयाक्षरमन्नं विकुर्वन्ननेकविधानि रूपाणि सृजति । तत्तद्रूपं सृष्ट्वा सर्वत्रानुप्रविशति । तान्येतानि पञ्च रूपाणि सृज्यन्ते प्राणः-आपः-वाक्-अन्नम्-अन्नाद इति प्रकृतयो हीमानि पञ्च ब्रह्माणि । तेषु पञ्चाक्षराण्यधिष्ठितानि ।

श्रीमत्य एवं मनुते तथा वा हालिङ्गवः प्राह च वायुमेव ।
यत्रोत्तमं कर्म करोत्यथायं त वायुमेवाप्ययते हि यष्टा ॥
*
संवत्सरं त्वाह तमेतमग्निं शाठ्यायनिः सन्त्यृतवो विभागाः ।
यस्मिंस्तमेवेच्छति याज्ञवल्क्यस्तदग्नितः सर्वविधास्ति सृष्टिः ॥
प्रजापतिर्योऽस्ति ततोऽस्य मध्यात् प्राणः समुत्क्राम्यति वाङ्मनश्च।
अग्निः स सोमः सह सर्वदेवैः स्वास्थ्याय तत्रैत्य भिषज्यतीमम् ॥
प्रजापतेरस्य शरीरतो ये रसाः समुत्थाय गता दिगन्तम् ।
महान्त उक्त्थास्त इमे समन्तादतो महोक्थानि वदन्ति तानि ॥
यतोऽयमग्निः प्रतितिष्ठतीह प्रजापतिस्तेन मतोऽयमग्निः ।
प्रतिष्ठितः सोऽस्ति रसो यजुस्तत् पुनःक्रमादुत्क्रमते तदर्कं स्यात् ॥
उत्क्रान्तवीर्यस्य पुनर्यतः स्यात् प्रपूरणं तद्धि महाव्रतं स्यात् ।
यज्ञेऽस्ति यो दीक्षित एष भुङ्क्ते यत् तद् व्रतं नाम तदित्थमेतत् ॥
×
प्रस्तावनानात्वमुदीय साम्नः समानमेतन्निधनं यदाहुः ।
दिग्भ्यो रसानां तदिहैकबिन्दौ स्वर्ज्योतिषि प्राप्तिरियं प्रतिष्ठा ॥
प्राणा हि सामान्यभृतं तदग्नौ देवा हि रूपं न्यदधुस्तथा हि ।
धाम प्रियं संसरतां सुराणां सहन्यमानास्तनवो हि साम ॥
ऋक्सामयोरिन्द्रहरित्वमुक्तं ताभ्यां चरत्यूर्ध्वमधस्तथाऽयम् ।
ते सोमपाने तत एव सोमं पिबत्यनुक्रम्य चरन् स इन्द्रः ॥
ऋक्सामयोरत्र यजुःस्वपीतिर्यजुस्तदाश्रित्य हिते भवेताम् ।
उत्पद्यते यत्र यजुर्नवीनं तत्रर्क् च सामापि नवे भवेताम् ॥
'अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
वेदयत्रयी वागियमस्ति तत्र प्राणः स वाचैव तया त्रिलोकीम् ।
उत्पादयन् विक्रमते त्रिधाऽसौ त्रिविक्रमो विष्णुरतः स यज्ञः ॥

---

* वायुरनायतनः, संवत्सरः सायतन इत्यनयोर्भेदः ।

× तानि वै नानाप्रस्तावानि समानिधनानि । तानि यन्नानाप्रस्तावानि नाना ह्यपश्यन् । अथ यत् समाननिधनानि । एका ह्येव यज्ञस्य प्रतिष्ठा, एकविंशः स्वर्गलोकः तस्मात् स्वर्ज्योतिर्निधनानि ।
(शत० का० ८ प्र० ४ प्रा० ५ कं० ६)

दिवं महोक्थेन महाव्रतेननान्तरिक्षामाप्नोदिममग्निना च ।
पृथ्वीचितोऽग्निर्महदुक्थमस्ति द्यौरन्तरिक्षन्तु महाव्रतं स्यात् ॥
यावन्महोक्थं स ऋचां समुद्रो महाव्रतं सामसमुद्र एषः ।
अग्निस्त्वमीषां यजुषां समुद्रस्त्रयः समुद्रा इह देवलोकाः ॥
सूर्ये त्रयीं तावदुदाहरामो यन्मण्डलं भाति महत्तदुक्थम् ।
*
यद्दीप्यतेऽर्चिस्तु महाव्रतं तद्यन्मण्डलेऽस्मिन् पुरुषोऽस्ति सोऽग्निः ॥
त्रय्येव विद्या तपतीयमेषा यो मण्डलेऽस्मिन् पुरुषः स मृत्युः ।
यद्दीप्यतेऽर्चिस्त्वमृतं तदस्माद्देवामृतान्मृत्युमृतिर्न भाति ॥
तदर्चिषस्तत्पुरुषस्य चैतद्यन्मण्डलं सा भवति प्रतिष्ठा ।
उक्थे महत्येव महाव्रतं स्यादग्निश्च सर्वत्र तथैव विद्यात् ॥
अग्निर्द्विधाऽस्त्याहवनीय एकः प्राणश्चितेऽग्नौ स निधीयतेऽग्निः ।
यश्चीयतेऽग्निः स हि वाग् यजुर्यत् स पूरुषोऽस्मिन् पुरुषाश्च सप्त ॥
चत्वार आत्मा पुरुषा अथ द्वौ पक्षावथैकः पुरुषोऽस्ति पुच्छम् ।
तैः सप्तभिर्यः पुरुषः स एकः प्रजापतिः श्रीभिरमुष्य शीर्षम् ॥

वितानवेदाः ।

प्रजापतौ त्रित्ववशात् त्रयोऽन्ताः स्युर्नाभिबिन्दुस्त्वथ मूर्तिपृष्ठम् ।
तथा बहिः पृष्ठमिति त्रयोऽपीतरेतरेण प्रथिताः स्युरेते ॥
नायामविस्तारमयः प्रदेशो यस्यास्ति बिन्दुर्ध्रियते स नाभौ ।
सा वस्तुभारस्य तुलास्ति तस्मिन् स्थिते स्थितं वस्तु गते गतं स्यात् ॥
हस्तस्य वस्तु स्पृशतो यतः स्याद् व्याहन्यमाना गविरुल्बणं यत् ।
तन्मूर्तिपृष्ठं बहिरस्य पृष्ठं दृष्टिर्यतो वाक् क्रमतेऽथ नोर्ध्वम् ॥
तन्नाभिबिन्दोरिह बाह्यपृष्ठे सूत्राणि षष्टित्रिशतीमितानि ।
ततोंशऽसाम्यं विषमेऽपि पृष्ठे बाह्येऽन्तरे मूर्त इति प्रतीमः ॥

---

* यो मौलिकोऽर्थो नीरूपत्वाददृश्यः तदमृतं तन्महाव्रतं तत्साम् । यो यौगिकोऽर्थो मण्डलं संपद्यते तद्यौगिकत्वादेव प्रत्यर्थं परिवर्तनशीलमपि प्रत्यर्थं नित्यत्वादमृतमृत्युः । तन्महदुक्थम् । यस्तु मण्डले पुरुषः स प्रतिक्षणमन्यान्यश्च भवति तस्मान्मृत्युः । तद् यजुः ।

अर्वाक् ततं पृष्ठमृगुत्तरं तु वितानितं साम समांशपृष्ठम् ।
+
ऋच्येव चाप्यूढमिदं हि साम ऋक्सामभिन्ना त्विह वाग्यजुः स्यात् ॥
तान्यत्र पृष्ठानि च तानि सूत्राण्येवं वितानो भवतीह येषाम् ।
प्राणांश्च वाचश्च मनांसि तानीतरेतरेण प्रथितानि विद्यात् ॥
बिन्दुस्थशक्त्या स्तननेन मूर्तिर्मूर्ते रसानां तु वितानतोऽस्ति ।
पृष्ठं बहिस्तत्र न वस्तुभारः किन्त्वस्य रूपं च रसोऽत्र भाति ॥

छन्दोवेदाः ।

प्रजापतिः प्राणमनोवचोमयो भवत्यनुस्कन्धविभेदतो द्विधा ।
स्वभावतः स द्विविधोऽपि विग्रहं धत्ते महिम्नान्वितमेव नित्यदा ॥
रवेरिवोद्भूय पुरश्च पश्चादवागुदक्चोर्ध्वमधश्च नाभेः ।
सर्वा दिशो मण्डलयन्त उस्रा आवृण्वते तन्महिमस्वरूपम् ॥
स्कन्धस्य यावानणुभिः सहस्थैर्व्यासस्तदन्त्याणुभुवोर्महिम्नोः ।
यत्रैक्यमुत्पद्यत एत दन्तः स्कन्धस्य रूपं महिमा बिभर्ति ॥
रसोऽप्रमाणादिति पूर्वमुक्तं नाभो न तस्यैति स पूर्वनभ्यः ।
पार्श्वाणु तिर्यङ् महिमैक्यसिद्धाणुः स्थानमेतद् भजते तथोर्ध्वम् ॥
कूटस्थितव्याससभुवामणूनामित्थं महिम्नां सयुजां यदैक्यम् ।
स उत्तरस्यास्य रसस्य नाभिः संपद्यते तद्वदिहोत्तरेषाम् ॥
पूर्वस्य पूर्वस्य तु नभ्य आत्मा न ह्युत्तरस्मिन क्रमते तदित्थम् ।
व्यासे ह्रसत्युत्तरमुत्तरं स क्रमात् प्रतिव्यासमयं क्रमः स्यात् ॥
पृष्ठेऽणवः सन्ति हि यावदेते द्वौ द्वौ विदिक्स्थौ भवतस्तु तेषाम् ।
व्यासोदयौ तावनुसृत्य सर्वे व्यासा प्रकल्प्याः प्रतिमूर्तिभेदात् ॥
समानदिक्स्थाणुकृतास्तु रेखा बह्वयोऽग्र पश्चाच्चलितास्तदैक्यम् ।
आयान्त्यतो वर्तुलवृत्तपृष्ठाद् रेखाः समव्यासत एव वीक्ष्ये ॥
व्यासान्तबिन्द्वोः प्रतिमूर्तिपृष्ठस्थयोरिह च्छन्द इतीयमाख्या ।
तच्छन्दितं वस्तु तदन्तरास्ति छन्दःकृतं बन्धनमेव ऋक्त्वम् ॥
व्यासान्तबिन्द्वोर्यदि सन्निपातात् स्यान्नभ्यबिन्दुः परतस्तु ताभ्याम् ।
न चाणवः सन्ति ततोऽस्य नास्ति व्यासस्ततस्तत्र क्रियासमाप्तिः ॥

+ ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्युस्रमूर्तिर्यजूंषि चेति' सूर्यसिद्धान्ते मूर्तेर्यजुष्ट्वमुक्तं तच्छ्रुतिविरुद्धम् ।

व्यासान्तबिन्द्वोरवसानबिन्दावभिन् रसानुक्रमयोगतः स्तः ।
व्यासान्तरेखे हि ततस्त्रिकोणस्तत्रोपपन्नाः प्रतिमूर्तयः स्युः ॥
पृष्ठे दृगाप्ता अणवस्तु यावत् पृष्ठ्यास्तु तावत् त्रिभुजान्तरस्थाः ।
क्षेत्राणि सन्ति त्रिभुजानि तावन् महोक्थमूर्तिव्रजसञ्ज्ञितानि ॥
छन्दोऽभिधैर्बिन्दुभिरात्तरू योर्या व्यासरेखाः परिपार्श्वरेखयोः ।
अन्तःस्थिता ह्रस्वपरा ऋचो हि ता यजूंषि मूर्तिष्वमृतान् रसान् विदुः ॥
मूर्तेः समानान्तरतः समन्ततः समानमात्राः प्रतिमूर्तयः स्थिताः ।
अतः समानान्तरक्लृप्तरेखया य कल्प्यते पृष्ठमिहास्ति साम तत् ॥
पृष्ठानि तावत् विषमाणि सर्वाण्याविर्भवन्तीह तथापि तेषाम् ।
पूर्वस्य पृष्ठस्य परत्र पृष्ठे विभागसाम्यं तदपीह साम ॥
मूर्तेर्महिम्नि प्रसृतौ प्रसाराद्ध्रस्वीभवन्त्यः प्रतिमूर्तयो याः ।
सर्वा ऋचस्ता अथ स प्रसारः संतिष्ठते यत्र तदन्तसाम ॥
ऋचां समानां परितः स्तुतानां पृष्ठानि सामानि बहूनि सन्ति ।
तदन्तसामास्ति यतो बहिर्वा नर्चा प्रचारोऽप्यभिधीयते तत् ॥
भूव्यासबिन्द्वोर्विलयेन नभ्येबिन्दौ विना व्यासमणुः स एकः ।
चतुर्दिशं यत्र विभाति देशे रथन्तरं पृष्ठमिदं वदन्ति ॥
सूर्यस्य बिम्बोऽपि तथा प्रदेशे यत्रेक्षितो भाति भवत्वणीयान् ।
तदस्ति पृष्ठं बृहदस्य यस्मात् पृथिव्यपेक्षं तु बृहत्त्वमस्ति ॥
रथन्तरं तावदिदं त्रिभेदं रथन्तरं वाङ्मयमेतदूर्ध्वम् ।
वैरूपकं गोमयमेतदूर्ध्वं स्याच्छाक्वरं तद् द्युमयं पृथिव्याम् ॥
बृहत् तथा स्यात् त्रिविध बृहत प्राग्ज्योतिर्मयं गोमयमस्ति तूर्ध्वम् ।
वैराजमस्मादपि चोर्ध्वमायुर्मयं मतं रैवतमेतदूह्यम् ॥
अग्निस्तु यावांस्तदिदं रथन्तरं पर्जन्यक्लृप्तं तु विरूपसाम तत् ।
लोकास्त्रयो दिक्सहितास्तु शाक्वरं ताण्ड्यश्च ताविंत्यवदन्महर्षयः ॥
आदित्यतः साम बृहन्निरूपितं प्रोत तु वैराजमृष्वतुनन्तरम् ।
प्रोतं पशुष्वस्य च साम रैवतं ताण्ड्यश्च तावित्यवदन् महर्षयः ॥
एकैकमेषां तु रथन्तराणामेकैकमन्येष्वतिमन्यते तत् ।
इत्थं परेषामपि पृष्ठमूह्यं यत्पृष्ठमस्यास्ति तदस्य साम ॥
यदग्निक्लृप्तं स वृषाथ योषा सौम्यं तयोर्यन्मिथुनं क्वचित् स्यात् ।
तत्रोदितं साम तु वामदेव्यं प्राणेषु गायत्रमिदं पृथक् स्यात् ॥

अङ्गाङ्गितो प्रोतमिदं तु यज्ञायज्ञीयसाम प्रवदन्ति विज्ञाः ।
यद्दैवतं साम तु राजतं तत् तदित्थमन्यत्र पृथक् तदूह्यम ॥
रथन्तरं भूर्बृहदस्ति तु द्यौर्गायत्रमग्निः खलु वामदेव्यम ।
प्राणः; स वायुश्च शशी तु यज्ञायज्ञीयमित्याह तु याज्ञवल्क्यः ॥
यज्ञप्रयोगे तु यदस्ति सामोद्गानं तदर्थे नियतास्तु मन्त्राः ।
साम्नाममीषां स्वरवर्णयुक्ता निदर्शिताः समविधानशास्त्रे ॥
यत्तु ब्रयुग्तेज आयाति बिम्बात् तारादीनां भूयसानेहसेह ।
मन्ये भ्रान्तं तन्नितान्तं न कान्तं सामान्तं तत् तेज एकान्ततः स्यात् ॥
श्रुत्यश्रौषं तेजसः सामरूप्यं सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत् ।
तं दृष्टान्तं भावयेद् यादृशं तत् तेजोरूपं तादृशं साम विद्यात् ॥

ऋचश्च सामेत्युपलक्षणं स्याद् ऋचोऽपि सामत्वमुवाच सूर्या* ।
प्रस्तावपूर्वा निधनावसानाः सामांशका ऋच्यपि संभवन्ति ॥

ऋक् सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥
(ऋ० सं० मं० १० सू० ५)

सामभक्तयः ।

प्रजापतेर्मूर्तिमतः स्वरूपे प्रदर्शिता सामविशेषसंस्था ।
अथोपचारे त्वधुना विशेषात् साम्नः स्वरूपं प्रतिपादयामः ॥
यान्यत्र नामानि तु तान्युचः स्यू रूपाणि यान्यत्र यजूंषि तानि ।
कर्माणि सामानि तदस्ति कर्म प्रत्यर्थतः सप्तविधं तथा हि ॥
हिंकारतः प्रस्तुतिरादिरस्योद्गीथः प्रतीहार उपद्रवोऽन्तः ।
एता अवस्था उपचाररूपा भवन्ति ताः सामविधाः प्रतीयात् ॥
नोदोऽग्नितः प्रक्रमणं च वायोः स्थाने च योगः करणस्य वाचि ।
सा हिंकृतिः प्रस्तुतिरादिरस्योद्गीथो यदुच्चारयते बहिर्धा ॥
इत्युत्थिताया प्रतिदिक्त्वमस्याः शान्त्यै प्रतीहार उपद्रवस्तु ।
रूपे विकारो निधनं विनाशो यथात्र वाच्येविमवेतरत्र ॥

---

* मनो अस्या अनक्षासीद् द्यौरासीदुतच्छदिः । शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम् । १०।८५।१०
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः । अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् ।१०।८५।१२

पुरोदयाद् यः प्रथमम् दिते यो यः संगवे मध्यंदिने तथा यः ।
मध्याह्नपश्चादपराह्नपश्चात् सायं प्रतापे तु रवेस्तदूह्यम् ॥
अथाऽपि वा पञ्चविधं प्रतीयान्नादिर्न चोपद्रव एष भिन्नः ।
न हिंकृतिर्न प्रतिहार इत्थं दृष्टौ तु साम त्रिविभक्ति मन्ये ॥
व्यासस्य योसाववसानबिन्दुः प्रस्ताव एषोऽस्त्यथ गर्भबिन्दुः ।
तस्यास्ति साम्नो निधनं तदित्थं मूर्तीविमाः सामविधाः प्रतीयात् ॥
प्रस्तावभक्तिर्ऋगिवास्ति पूर्व्या सामेव पश्चान्निधनाख्यभक्तिः ।
ऋक्सामयोर्योग उपैति यस्मिन् मध्ये स उद्गीथ इवास्ति पूर्णः ॥
उत्पद्यते तिष्ठति गीर्य्यते च क्रिया तदुत्पत्तिनिगीर्णिमध्ये ।
यस्याः स्थितिस्तामुपलक्ष्य कर्मोद्गीथं विदुस्तद्धि समस्तमेतत् ॥

वेदसाधारणम् ।

सर्वेऽपि यज्ञा रसवेदतः स्युर्यज्ञादिहान्नान्नभुजोः प्रवृत्तिः ।
स्वास्थ्यं क्षयो वृद्धिरिहान्नयोगात् तदेतदस्मिन् रसवेदकर्म ॥
एकैकवस्तु प्रसरत् प्रदेशं भूयांसमातिष्ठति सूक्ष्मरूपैः ।
संकोचमागत्य घनीभवत् तद्देशे कनीयस्यपि याति पीन्ना ॥
स एष संकोचविकाशधर्म्मान्वयोऽस्ति सर्वत्र वितानवेदात् ।
सर्वो वितानं भजतेऽथ नोचेद्वितानमायाति तदेष नास्ति ॥
एकं क्वचिद्वस्तु समीपदृष्टं बृहत्प्रतीमः क्रमविप्रकर्षात् ॥
ह्रस्वं च ह्रस्वं भवत् तदन्ते न दृश्यते छान्दसवेदरात् ॥
दृष्टिर्नृणां चान्द्रधरातलान्ता नातः परं गच्छति तेन तत्र ।
निष्पद्यते या दृगिदं खवृत्तं तत्रैव दृश्यन्त इमानि भानि ॥
चान्द्रस्य सृष्टित्रिशतीविभागान् धरातलस्य प्रतिपद्य तत्र ।
नक्षत्रताराग्रहभुक्तिभागान् व्यासांश्च तेषां गणयन्त्यभिज्ञाः ॥
पार्श्वो नलक्षान्तरितेऽस्ति चन्द्रश्चन्द्रप्रदेशान्तमुपैति दृष्टिः ।
धरातलं कल्पितमेतदस्योत्याहुर्नवीना गणितप्रवीणाः ॥
ब्रूमस्तु यत्रैव तवास्ति चक्षुस्तत्रैव क्लृप्तं तु धरातलं तत् ।
चक्षुःप्रदेशेऽस्ति यथा यथर्चः प्रज्ञा प्रगृह्णाति तथा तमर्थम् ॥
इहान्तिके वस्तु युगान्तरं यत् तदप्युपैत्यक्षिण तदक्षसेत्रे ।
दूरस्थितानां तु मिथोऽन्तराणि समानदृङ्न्यायत उद्धृतानि ॥

वैषम्यसाम्ये अपि वृद्धिह्रस्वते यथोपतिष्ठन्त इमाः समन्ततः ।
व्याप्ता हि वाचः कथिता भवन्ति ते वेदाश्च्यवन्तेऽन हि नाभिबन्धनात् ॥
साम्नामृचामायतनं निरूढं पश्याम्यथानायतनं यजुस्तत् ।
वाचो हि सत्या न विना तु ते स्युः प्राणैर्नवा ते मनसा विना स्युः ॥
प्राणा हि वेदा मन एव वेदा वाचो हि वेदा इति चाविरुद्धम् ।
यावान्मनस्तावदिमे प्रथन्ते प्राणाश्च वाचश्च सहैकभूताः ॥
यावनमीषामवकाश आहितस्तत्रास्थिता दृक् स्वसमानवर्तिनाम् ।
ऋङ्मूर्तिमेवोपलभेत वेद तां तस्मादिमां वेद इति प्रचक्षते ॥
अस्तीति यत्राह तदाह वेदत्रयीमिमामेव तु सैव सास्तिः ।
न चोपलब्धिं व्यतिरिच्य सत्ता नवोपलब्धिर्व्यतिरिच्य सत्ताम् ॥
यन्नास्ति तन्नोपलभे यदेवोपलभ्यतेऽस्तीदमतस्तदेकम् ।
त्रय्यां हि भूतान्यखिलानि वीक्षे त्रयीत एवोद्भवत् समग्रम ॥
प्रजापतेरेव समग्रवेदा भवन्ति तस्य श्वसितानि वा ते ।
प्रजापतिर्न व्यतिरिच्य वेदान् प्रजापतिर्वेद इति ब्रवीमि ॥
छन्दस्यवेदानृच आहुरेव वितानवेदान् प्रवदन्ति साम ।
यजुस्तु सर्वो रसवेद इत्थं वेदेषु वेदान् घटयन्ति केचित् ॥
छन्दांसि चैतान्यथ तान् वितानान् रसांस्तथा तान् प्रतिबिम्बु विद्यात् ।
अपौरुषेयाः पुरुषप्रयत्ना योगास्तु ते सर्वविधा हि वेदाः ॥
ये पौरुषेया रचिताः पदार्था प्रजापतिस्तत्र च तत्र चायम् ।
वेदैश्च यज्ञैश्च कृतस्वरूपः स्वयं विभुत्वादिव संनिधत्ते ॥
वेदान् प्रपश्यद्भिरिमान् स्वबुद्ध्या वेदानुसारादुपपन्नमर्थम् ।
ज्ञेयं विधेयं च निदर्शितुं यच्छास्त्रं कृतं तत्र च वेदशब्दः ॥
ये प्राणदेवा अपि ये नृदेवा विज्ञानमेषामितिहास एषाम् ।
यत्र स्तवो यज्ञविधिश्च क्लृप्तस्तद्ब्रह्मवाक्यान्यपि वेदशास्त्रम ॥

प्रजापतिस्वरूपम् ।

वद्यन्ति वेदाः परितः प्रजापते प्रजापतावेव पुनः प्रतिष्ठिताः ।
विना च वेदैर्न भवेत् प्रजापतिः प्रजापतिं वेदमयं ततो विदुः ॥
प्रजापतिः स द्विविधोऽनुगम्यते परात्परोऽसौ प्रथमः परोरजाः ।
भोक्ता परः स द्विविधोऽस्ति सत्यो यज्ञश्च सत्यस्तु स वेदमूर्तिः ॥

यतो द्विधास्तीश्वरजीवभेदतो जीवो द्विधायं स जडः स चेतनः ।
प्रजापतिः सर्वविधस्त्रिधातुको ज्ञेयः पशुः प्राणभृताऽऽत्मना कृतः ॥
एभिस्तु वाक्प्राणमनोभिराद्यैः सत्यैस्त्रिधा तु प्रथतेऽत्र योऽर्थः ।
तमक्षरं सत्तरमाहुरार्य्या मर्त्यं क्षरं स्यादमृतं ततोऽन्यत् ॥
क्षराक्षराभ्यां सहितोऽव्ययोयं त्रिपूरुषो यः पुरुषः प्रतीतः ।
प्रजापतिं तं ब्रुवते स नासावणोरणीयान्महतो महांश्च ॥
अव्याकृतः कोऽपि परात्परो यः प्रागास सर्वप्रकृतिर्ह्य सीमः ।
स एष वाक् प्राणमनोभिरेभिर्नानाविधैर्व्याक्रियतेऽव्ययात्मा ॥
ओमुच्यते यो ध्वनिरत्र सा वाक् प्राणः स्वरो यत् प्रतिपद्यतेऽस्मात् ।
अर्थप्रतीत्यै पठितं मनस्तत् प्रजापतिः सप्रणवस्त्रिधातुः ॥
प्रजापतिर्ब्रह्म तु रूपमस्यानिरुक्तमन्यच्च निरुक्तमन्यत् ।
पूर्वानिरुक्तस्य निरुक्तिरग्रे विधीयते तद् द्वयमस्त्यभिन्नम् ॥
दिग्देशकालादिपरिग्रहस्तु प्रजापतेरस्य निरुक्तताऽस्ति ।
तैश्चापरिच्छिन्नत्तिरिहानुरुक्तिः सोऽखण्डनिर्धर्मकनिष्कलोऽर्थः ॥
प्रस्तूयते यत्र हि वस्तुसत्तामात्रेण किन्तु स्वगतो न भेदः ।
विवद्यते नापि च तत्र संख्या द्वित्वादिका स्यादनिरुक्तमेतत् ॥
निरुक्तिरेषा यदि चेदनेके भेदा भवन्तीह निरूप्यमाणाः ।
स्याद्धर्मधर्मित्वविवेचनाऽस्मिन् विज्ञायते तद्धि निरुच्यते च ॥
यत्किञ्च पश्याम्यखिलं तदेतन्निरुक्तरूपं सह भेदसंख्यम् ।
एतस्य मूलं त्वनिरुक्तरूपं ब्रह्माऽस्ति तन्नेह त्रिशिष्य विद्मः ॥
निरुक्तरूपं यदिहास्ति यस्मिन्नैकात्म्यमेषां कथितं त्रयाणाम् ।
निरुक्त एषोऽस्ति पुनस्त्रिपर्वा प्राणेन वाचा मनसा च रूपात् ॥
नाभिश्च मूर्तिर्महिमा प्रजापतेस्त्रीण्यस्य पर्वाणि भवन्ति रूपतः ।
नभ्यं मनोमूर्तिरियं तु वाङ्मयी प्राणात् समन्तान्महिमाऽनुवर्तते ॥
प्रजापतिर्यद्यपि सोऽयमेकस्तथाऽपि पर्वानुगमात्त्रयः स्युः ।
प्रजापतीनां प्रथमोऽत्र नभ्योऽन्यो व्याकृतोऽन्यः पुनरत्र सर्वः ॥
नाम्ना च रूपेण च कर्मणा च स्युर्व्याकृता धर्मिणि यत्र धर्म्माः ।
तद् व्याकृतं रूपमिदं तु मूर्तं तस्यैव नाभावयमस्ति नभ्यः ॥
तद् ब्रह्म सामोक्थविधं हि नभ्यं सर्वेपि तद्व्याकृतवस्तुधर्माः ।
तदुत्थितास्तेन भृताः समानं तदस्ति तेषां विविधाकृतीनाम् ॥

"प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥"
(यजुः ३१ । १६)

मूर्तिस्त्वियं व्याकृतमस्ति रूपं गावश्च मूर्तिं परितश्चरन्ति ।
वेदाश्च यज्ञाश्च रसाश्च देवाः सहोपजीवन्ति हि ता इमा गाः ॥
यद्वस्तुनः किञ्चन रूपमीक्षे ता गाव एवोपनमन्ति मेऽक्ष्णि ।
गावश्च भानोः किरणादुपेताः कक्षीवतस्ताः शबरः स्तुवीते ॥
❀
"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुपनो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया स मदेम" ॥
(ऋ० १० । १६६)

वेदाश्च यज्ञाश्च समन्ततोऽस्या मूर्त्तेः परं मण्डलमर्जयन्ति ।
योऽस्या हि मूर्त्तेर्महिमा निरुक्तः सर्वोऽयमुक्तो महिमा स एव ॥
एकः स धर्म्माय इमेऽत्र धर्म्मा धर्मा हि सर्वेऽत्र ततः स सर्वः ।
तमेव सर्वं महिमानमस्तौत् प्रजापतिः कोऽपि हिरण्यगर्भः ॥
"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्" ॥
(ऋ० १० । १२१)

❀ "प्रजापतिर्विधाता मह्यमेता गाः प्रयच्छन् सर्वैर्देवैः पितृभिश्चैकमत्यं गतः सन् कल्याणीर्भवन्तीस्ता गाः अस्माकं व्रजमुपकरोतु। तासां गवां प्रजया संतानेन वयं संगच्छेम इति सायणभाष्यम् ८।८।२७ प्रजापतिः प्रतिवस्तुगतस्तद्वस्तुन आत्मा स सौरप्राणैश्चान्द्रप्राणैश्च संयुज्यमानः किरणप्रतिफलनेन मम दृष्टौ सौरचन्द्रकिरणरूपा गास्तद्वस्तुरूपतामायाताः प्रापयति । गोष्ठं चक्षुः । गवां प्रजास्तत्तद्वस्तुरूपाणि संमदनं ज्ञानवर्द्धनम् । इति वयम् । विश्वैर्देवैः सूर्यरसैः पितृभिश्चन्द्ररसैः संविदानः संयुज्यमानः प्रजापतिः प्रतिवस्त्वभिमानी वस्तुप्राणः शिवा दृष्ट्यनुकूलाः सतीरेता गाः किरणान् नोऽस्माकं गोष्ठदृक् प्रदेशमुपाकः = उपाकरोत् यदि वस्तुप्रदेशात् प्रतिफलिताः एते किरणा नागमिष्यन् तदा किञ्चिदपि वस्त्वपश्यतामस्माकं दृष्टिरनन्तत्वात् व्यनङ्क्ष्यत् तस्मादेतैः किरणैर्दृष्ट्यनुग्रहणाद् दृष्ट्युपकारो जातः तासां गवां प्रजया फलितकिरणोपलब्धैर्वस्तुरूपः वयं संमदेम वर्द्धितज्ञानतया हृष्टात्मानो भवेम इति वैज्ञानिकोऽर्थः ।

वेदाश्च यज्ञा अपि सर्वदेवाः प्रजापतेः सर्वविधस्य रूपम् ।
प्रजापतिस्त्वं त्वखिलस्य विद्याद्विश्वस्य वाक्प्राणमनोमयत्वम् ॥
मनः प्रधानं भवतीह नाभौ मूर्त्तिस्तु वाचा क्रियते विशेषात् ।
अन्तर्बहिः प्राणकृतास्तु गावो रसाश्च देवाश्च यदाश्रिताः स्युः ॥
अत्राहुरेके क्रमसृष्टिमेषां प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् ।
सृष्ट्वा मनोऽसौ मन एव चासीत् सृष्ट्वाऽथ वाचं स च वाग् बभूव ॥

आदिप्रजापतिः ।

प्रजापतिः कश्चिदनन्त आस्ते प्रजापतीनां सहयोनिरेकः ।
प्रजापतीनां पुनरेक एकः प्रजापतीनां भवतीह योनिः ॥
यश्चायमेषां प्रथमः प्रजापतिर्ये चास्य भेदाः प्रतिपादितास्त्रयः ।
१ २ ३
प्राणो बलं तत्रा मनो रसं विदुर्वाचं तथाऽभ्वं तदिति त्रयं जगत् ॥
प्राणो बलं तत्र मनो रसं स्याद् वागभ्वमेतानि परात्पराणि ।
रसं तमाभुं प्रवदन्ति तुच्छं बलं तथाऽभ्वं च वदन्ति मायाम् ॥
एषां त्रयाणामिह चोत्तरोत्तरिक्रमोऽस्ति पूर्वं रसतो बलं भवेत् ।
बलान्यनन्तानि परस्परेण यं संसर्गमायान्ति तदभ्वमुच्यते ॥
यदप्रवर्त्याविपनं रसं तं भूमानमाकाशमनन्तमाहुः ।
अक्षुब्धरूपं न विमीयते तद् दिग्देशकालैरपि संख्ययाऽपि ॥
बलान्यपूर्वाणि रसाद् भवन्ति चिनोति किन्त्वेष रसो न तेन ।
आश्चर्यवच्छान्तरसा दशान्तं बलं समुद्भूय विलीयतेऽस्मिन् ॥
अथाणिमानो बहवः स्युरस्मिन् भूमन्यमुष्माद् बलतः प्रपन्नाः ।
उदेति तस्मात्तु बलं रसेनाऽणिम्नात्मना तेन समन्वयात्सत् ॥
असद्बलं किन्तु सतो रसस्य प्रयोगतः सम्प्रतिपद्यते तत् ।
सतो बलस्य प्रतिपत्तुमर्हं नास्ति स्वरूपं यदसृष्टमाद्यम् ।
बले सतीदं बलमेति सच्चेदणिम्नि कुत्रापि यदैक्यमेति ।
द्वयोर्बहूनामपि चैकभावात् संसृष्टमभ्वं तदुदेति रूपम् ॥
भूताणु यत्रास्ति न तत्र बिन्दौ भूताणु किञ्चित् प्रविशेत् कदाचित् ।
बलानि भूयांस्यपि किन्तु सत्रा संसर्गमायान्ति तदैकबिन्दौ ॥
संसर्गभेदा अपि सन्त्यनेके भेदो बहुत्वं च कुतोऽप्यपैति ।
यदैक्यमायान्ति बलानि तत्र द्वयोर्निपातेन भवेत्तदभ्वम् ॥

रसं च भूयांसि बलानि सत्रा गृह्णाति यत्पश्यति कञ्चिदर्थम् ।
रसात्तदेकत्वमुदेति तस्मिन् बलस्वभावात् परिवर्तनानि ॥
तात्कालिकं भूरिबलाभिमर्दजं लोकत्रयातीतमदोऽभ्वमत्र यत् ।
न दृश्यतेयद्भृशमत्र दृश्यते न दृश्यते क्वापि तदस्त्यलौकिकम् ॥
सत्तित्तिरिः प्राह स याज्ञवल्क्यो यन्नाम यत्कर्म च यच्च रूपम् ।
त्रयं तदभ्वं तदिदं त्रिलोक्या बाह्यादुपैत्यत्र परात्मसूक्ष्मम् ॥

यौगिकरूढश्चित्यो यज्ञस्कन्धः ।

अत्राशनायोदयतेऽमितत्वादहर्निशं कामयते स भूम्ने ।
तप्यंस्तपः श्राम्यति चैक एकः कर्षत्यशेषानितरान् पुरे स्वे ॥
मनोवशादिच्छति तप्यतीह प्राणानुसारेण करोति यत्नम् ।
श्राम्यत्ययं वाचि पुरं शरीरं युङ्क्ते च सोऽयं पुरुषस्वभावः ॥
तत्राशनायावशतोऽर्कं उक्थादुत्थाय यच्चाहरतेऽशिति स्वाम् ।
तदन्नमूर्क् प्राण इतो मनः स्यात् पुरञ्जनेऽस्मिन् क्रम एव यज्ञः ॥
वाचोविकाराः प्रतियज्ञमन्ये भवन्ति तैस्तैः सह वाग्विकारैः ।
पुरञ्जनो यज्ञमयः कुलायः पृथग्विधो भाति स योगरूढः ॥
आदौ स्वयम्भू-परमेष्ठि-सूर्याः सचन्द्रपृथ्वीत्यभवन् कुलायाः ।
प्रत्येकमेते परतश्च भुक्ताः परांश्च भुञ्जन्ति निसर्ग एषः ॥

विशेषणव्यपदेशानुरोधिनो विशिष्टव्यपदेशाः ।

विना शरीरं तु पुराणपूरुषं विद्यादवैकारिकरूढमान्तरम् ।
वैकारिकं रूढमिमं शरीरतो विशिष्टमाहुः पुरुषं शरीरिणम् ॥
शरीरिणां सिध्यति भोक्तृभोग्यता परस्परं चेदधियज्ञपूरुषः ।
स यौगिको रूढ इहाऽहुतेर्वशादन्यात्मदेहोऽन्यशरीरतामियात् ॥

यज्ञस्वरूपम्–यज्ञविभागः ।

वेदैर्हि यज्ञं तनुते यजुर्भिस्त्वग्रेऽथ ऋग्भिस्त्वथ सामभिस्तु ।
यज्ञस्वरूपं क्रियते त्रयस्ते वेदास्त्रयीरूपमथैव यज्ञः ॥
वेदत्रयी वागियमस्ति सर्वा वेदास्त्रयो यावति तावति स्यात् ।
प्राणात्मयज्ञोऽयमथास्य योनिर्यज्ञस्य वेदास्त्रय आशयश्च ॥

यज्ञो हि वेदाशय एष योनिर्वेदत्रयस्येत्यथवा वदाम: ।
विद्या त्रिधातुस्त्वियमाशयेऽस्मिन् शेते त्रिधातुस्तत एष यज्ञ: ॥
१
त्रय्यां हि भूतान्यखिलानि सन्ति त्रयीं तु विद्यामिह सत्यमाहु: ।
प्रतिष्ठितं सर्वमिदं हि सत्ये तत्तायते सत्यमितो हि यज्ञात् ॥
यज्ञ: स्वयम्भूरिह कश्चिदास्ते जुहोत्ययं सर्वहुदात्मनीदम् ।
तस्माच्च ऋक् साम यजुश्च जज्ञे तत: प्रवृत्ता: सकला हि यज्ञा: ॥
त्रैलोक्यमन्तर्भवतीह यस्मिंस्तत्पारमेष्ठ्यं पदमध्यतिष्ठत् ।
२
प्रजापतिस्तं तु वितायमानं त्रयीमयं यज्ञ इति प्रतीयात् ॥
प्राणा इमे तत्र गतास्तु वाचस्तेजांसि ते ज्योतिषि मानसे स्यु: ।
एते त्रय: सम्मिलिता इहात्मा प्रजापति: स प्रथितस्तु यज्ञ: ॥
चित्तस्य वाचश्च य उत्तरोत्तरि: क्रम: स यज्ञो मन ऐतरेयके ।
मनोऽस्ति वाचो मनसोऽस्ति वागियं प्राणस्य यज्ञस्य हि ते सुवर्तनी ॥
सोमोऽमृतं सोमविनाकृतं नखं सोमेन सोमो यदि हन्यते बलात् ।
तस्मिन् सहस्याग्निरुदेति सोमतो यत: सहोयज्ञमिमं प्रचक्षते ॥
अग्नौ कृतोऽग्नित्वमुपैति सोम: स चाग्निरुद्धान् म्रियते स सोम: ।
अग्निश्च सोमश्च विपर्य्ययेन यतो मिथो यज्ञमिमं वदाम: ॥
प्रजापतिस्तायत एष यज्ञ: प्रजा: प्रजातास्तत एव सर्वा: ।
यज्ञं तमेवान्वखिला इदानीमपि प्रजायन्त इति ब्रवीमि ॥
प्रजास्तु देवा वसवोऽष्टरुद्रा एकादश द्वादश चादितेया: ।
द्यावापृथिव्यौ च तदित्थमेते देवास्त्रयस्त्रिंशदिमे प्रसिद्धा: ॥
अग्निश्च यज्ञे प्रथमोऽस्त्यमीषां विष्णुस्तथैषां परमो निविष्ट: ।
तावग्निविष्णू भवतोऽन्त्यतन्वौ यज्ञस्य देवास्तु तदन्तरे स्यु: ॥
सर्वे त्रयस्त्रिंशदिमे तथैकं रूपं प्रकुर्वन्ति प्रजापति: स: ।
इत्थं चतुस्त्रिंशदमुष्य यज्ञस्यैता: खलु व्याहृतयो भवन्ति ॥
यज्ञस्य पर्वाणि च यज्ञतन्वश्चैता भवन्तीति स तायमान: ।
प्रजापतेरप्यनिरुक्तरूपस्येदं निरुक्तं भवति स्वरूपम् ॥
ऋक्सामयोर्नोत्क्रमणं कदाचित् तेनान्नमन्यस्य तयोश्च नान्नम् ।
अग्निस्तु वागन्नमत: स गच्छत्युत्क्रम्य तृप्तिं कुरुते परस्य ॥

१ शत० १०।३।६। (२-तै०ब्रा० १।४।६ श०४।४।८)

प्राणं तमन्नादमिहाग्निमाहुर्यदन्नमाहूयत एष सोमः ।
सोमो हुतस्तूर्क् प्रभवेत् ततोऽन्यः प्राणे भवेदन्नमथोर्क् च तद्वत् ॥
प्राणस्य चान्नस्य च तद्वदूर्जोऽन्योन्यग्रहोऽन्योन्यसमुद्भवश्च ।
स्यात्कर्म्मणा येन स यज्ञ उक्तो यज्ञा हि यज्ञात् प्रभवन्ति सर्वे ॥
न प्राणविस्रंसनमस्ति यस्मिन्नान्नग्रहायास्य कदापि कामः ।
अनाहुतेऽन्ने तु न यज्ञसिद्धिर्यज्ञं विना नाग्निरयं न चौष्ण्यम् ॥
विस्रंसते प्राण इह स्वभावतः प्राणे गते क्लिश्यति तत्सितं मनः ।
प्राणं पुनः स्रष्टुमिदं तु वाङ्मयं पीताशितं कामयतेऽन्नमाहृतम् ॥
प्राणो द्विधा व्याप्रियते स केनचिद् भागेन विस्रस्य परेण युज्यते ।
अन्नं समाहारयते तु केनचिद् भागेन सोऽन्नं परिगृह्य तिष्ठति ॥
गृहीतमन्नं द्विविधं प्रवर्त्तते प्राणस्तदुत्सादितसंमितं भवेत् ।
प्राणं तु विस्रस्तमनेन पूरयेद् भूयोऽन्नमस्मिन् जनयेद् विशेषिताम् ॥
अन्नं भवेद्गीयमूर्क् तु सद्यः प्राणो भवेत् प्राण इहेतरे द्वे ।
ऊर्क् चेतरे अन्नमपीतरौ द्वौ धत्ते मिथः संग्रह एष यज्ञः ॥
प्रजापतेः स्रस्ततनोर्हि मध्यादुत्क्राम्यतोऽन्नैर्ग्रहणं यतोऽस्ति ।
प्राणस्ततोऽन्ने न भवेद् गृहीतः स एव हि प्राणिति योऽन्नमत्ति ॥
अन्नं यदोत्क्रामति वा तदानीं प्राणेन गृह्णाति तदन्नमस्मिन् ।
प्राणेन पश्यामि ततोऽन्नमात्तं य एव हि प्राणिति सोऽन्नमत्ति ॥
ऊर्ग् वा यदोत्क्रामति तामगृह्णात् ताभ्यामुभाभ्यामत एव ताभ्याम् ।
अस्त्यूर्ग् गृहीता य इहान्नमत्ति स प्राणितीहोर्जयतीदमेतत् ॥
प्राणान्नयोरुत्क्रमतोपगृह्णादूर्जैव ते तेन च ते गृहीते ।
ऊर्जा यमेवोर्जयतीह लोके स एव हि प्राणिति सोऽन्नमत्ति ॥
अन्योन्यतस्तानि ततो गृहीतान्येकत्र सन्त्यात्मनि सन्निपत्य ।
तदन्नमस्मिन् प्रतिपद्यमानं सर्वेऽपि देवाः स्युरनुप्रपन्नाः ॥
प्रजापतेर्नंश्यति यावदुत्क्रमे संस्कुर्वते तावदिमं दिवौकसः ।
तन्मध्यतः सर्वमिदं हितेऽदधुः प्राणं तथान्नं च तथोर्जमीदृशम् ॥
अहर्निशं तायत एष यज्ञः संतिष्ठते चाहरहर्नियुङ्क्ते ।
स्वर्गस्य गत्यै किल यज्ञमेनं यज्ञेन च स्वर्गमुपैति नित्यम् ॥
क्षेत्रज्ञ आत्माऽस्ति हि सूत्रतोऽन्वारूढस्तनौ प्राज्ञ इहानुषक्तः ।
तस्मात् स नात्मानमवैति देपी प्रतिक्षणं स्वर्गमनुप्रयान्तम् ॥

यज्ञभक्तयः ।

अग्निर्यतः संस्क्रियते स यज्ञः स चाग्नियज्ञः स च सोमयज्ञः ।
अग्नौ कृताग्न्याहुतिरग्नियज्ञः सोमाहुतिस्तत्र तु सोमयज्ञः ॥

एकादश त्वग्निविधाः प्रसिद्धा द्वौ गार्हपत्याहवनीयसंज्ञौ ।
धिष्ण्याग्नयोऽष्टौ निर्ऋतिस्तथैका तेष्वग्निसोमाहुतिरेव यज्ञः ॥

अग्निर्द्विधा चित्य[1]निधेय[2]भेदाच्चित्यानि भूतान्यपि देवतानि ।
भूतैश्च देवैश्च हुतैः कृता स्यात् तत्राग्निचित्यासमनोऽग्नियज्ञः ॥

अग्निर्यदाग्न्याहुतितश्चितः स्यात् तदायमात्मा बलमेति भूयः ।
असङ्गधर्मा विभवन् स सोमैः क्रमाच्च्युतः सन्नमृतत्वमेति ॥

देवा निधेयास्तु सदैव देहे संवत्सरादेत्य शरीरिणोऽस्मात् ।
वैश्वानरादैक्यमुपेत्य नित्यं दिवं व्रजन्तीति निसर्ग एषः ॥

अग्निर्हि सर्वा अपि देवतास्तत् संवत्सरो देवमयो यथाऽयम् ।
वैश्वानरो देवमयस्तथायं देवेषु सोमाहुतिरेव यज्ञः ॥

वैश्वानरो यो यजमानदेही संवत्सरस्य प्रतिमा स देवैः ।
संवत्सरस्यावयवैर्विभक्तः स एष सोमाहुतिसंस्कृतः स्यात् ॥

[1] अह्ना च रात्र्या च कृतैर्विभागैः संवत्सरो यो ध्रियते स भिन्नः ।
शतानि त्रिंशानि तु सप्त तस्मिन् कृष्णैश्च शुक्लैश्च भवन्ति भागाः ॥
स्यादेकतः सूर्यविभाः पृथिव्या स्यादन्यतो घोरतमः सदैव ।
नैकान्तरत्वक्रमवत्वमत्राहोरात्रयोः स्यादिति नात्र शङ्क्यम् ॥
सूर्याभिदिक्स्थे यजमान उर्वी यावत्पुरो यात्यहरेतदस्ति ।
सूर्यान्यदिक्स्थे त्वियमेति यावत् सा रात्रिरित्थं दिवि च क्रमः स्यात् ॥

---

१ ३६० अहानि, ३६० रात्रयः } ७२० अहोरात्राणि ।

अग्निहोत्राणि ७२०

२— पक्षेण पक्षेण कृते विभागे सांवत्सरं रूपमिदं पृथक् स्यात् ।
ते स्युश्चतुर्विंशतिरत्र भागाश्चन्द्राश्रितैकान्तरशुक्लकृष्णाः ॥
अत्रापि चन्द्रस्य सदैकरूप्याच्छुक्लं च कृष्णं स्थितमर्द्धमर्द्धम् ।
मह्यां चलन्त्यां क्रमशस्तु वृद्धं शुक्लं च कृष्णं यजमानभागे ॥
यावत्तु कृष्णं तदिहासुरं स्याच्छुक्लं तु दैवं वियदस्ति पृथ्व्याम् ।
चन्द्रेऽपि कृष्णं तु तदासुरं स्यात् पित्र्यं पुनश्चन्द्रगतं तु शुक्लम् ॥

३— मासैश्चतुर्भिस्त्विह शीतकालो मासैश्चतुर्भिः पुनरुष्णकालः ।
मासैश्चतुर्भिर्जलदागमः स्यात् संवत्सरस्यावयवास्त्रयः स्युः ॥

४— षड्भिस्तु मासै रविरुत्तरस्यां षड्भिस्तथा तैः स हि दक्षिणस्याम् ।
संवत्सरोऽसौ द्विविभक्तरूपो यथा भवेत्तद्वदयं च देही ॥

५— पूर्णोऽथ संवत्सर एकमूर्त्तिः सोऽहर्गणस्तत्र यथेच्छमह्नाम् ।
एकं दशाद्याथ शतं सहस्रं विभाजकं यज्ञविधौ प्रक्लृप्तम् ॥
एकाहयज्ञा बहवोऽप्यहीनाः स्यू रात्रिसत्रायनसत्रभेदाः ।
संवत्सरस्याऽवयवेषु सोमप्रचारको यज्ञविधिः स मुख्यः ॥
एतस्य सोमस्य हि योग्यतार्थं षाण्मासिकं मासचतुष्टयं च ।
तन्मासिकं चाह्निकमत्र कृत्वा संवत्सरः संक्रियते हविर्भिः ॥
तदग्निहोत्रं खलु याग्निहोत्रं हव्याध्वरं वा पशुबन्धमाहुः ।
सोमस्य चाङ्गानि भवन्त्यमूनि प्रधानतः सोम इहास्ति यज्ञः ॥
ये के च यज्ञाः प्रथितास्त एषां विकारभूता इह कामभेदात् ।
आत्मास्ति यो मानुष एष दैवः सम्पाद्यते स्वर्ग्य इह क्रियाभिः ॥

२	३	४
१२ शुक्लपक्षाः } २४ पक्षाः १२ कृष्णपक्षाः }	(१) शीतकालः ४ मासाः (२) उष्मकालः ४ मासाः (३) प्रावृट्कालः ४ मासाः	(१) उत्तरायणम् ६ मासाः (२) दक्षिणायनम् ६ मासाः
दर्शपूर्णमासाः २४	चातुर्मास्यानि ४	पशुबन्धौ २

५

(१) संवत्सरः १२ मासाः ।

सोमयागः—१

प्रजास्वरूपम्, प्रजाविभागः ।

प्राणाः पृथक् सन्ति न वाचमन्तरा वागन्विताः प्राणविधाः प्रजा मताः ।
तत्रादितः प्राणविधास्तु सप्तधा विभागमाप्ता ऋषयः प्रकीर्तिताः ॥
विजातिना नर्षिसमन्वयात् पुनर्भवन्ति केचिद् पितरः पृथग्विधाः ।
नानापितॄणां च समन्वयात् पुनर्भवन्ति देवासुरभिन्नजातयाः ।
नामान्यृषीणां च तथा पितॄणां देवासुराणामपि लक्षणानि ।
मनुष्य-गन्धर्वविधाप्रभेदान् विद्याद् विशेषेण तु दैववादात् ।
ये चर्षयो ये पितरश्च देवासुराश्च गन्धर्वपदा मनुष्याः ।
सर्वेऽप्यमी देवपदेन पूर्वैरुच्यन्त एभिः प्रचितं च विश्वम् ॥
तत्राग्नयो नाम यमाश्च सोमा देवास्त्रयस्ते प्रथमाः प्रसिद्धाः ।
तत्राग्नयः स्युर्वसु-रुद्र-सूर्याश्विभेदतोऽनेकविधा विभिन्नाः ॥
सोमो यमोऽग्निश्च तथाप एताः प्रजा द्विधा ता अमृताश्च मर्त्याः ।
मर्त्या हि वाग्भक्षय आसु यावत् प्राणा मनांस्यप्यमृतानि तानि ॥
अग्निर्द्विधा कश्चन सोमभोक्ता सोमेन संसृज्य दधाति यज्ञम् ।
सोमेन कश्चिद् विरुणद्धि सोमाहुतिं स विच्छिद्य पृथक् करोति ॥
अग्निं बुधाः सोमविरोधिनं तं यमं विदुर्यज्ञनियामकत्वात् ।
अबग्निसोमा इति तिस्र एव प्रजा विनिष्कृष्य भवन्ति तस्मात् ॥
प्रजापतिः स्यादमृतं च मर्त्यं मर्त्योऽर्द्धनः सोऽस्त्यमृतोऽर्द्धतश्च ।
आहुः पुराणा इदमर्द्धमर्द्धं प्रजापतेरस्त्यमृतं च मर्त्यम् ।
द्वे ब्रह्मणः संभवतो हि रूपे तत्रामृतं सत् स्थितमप्यमूर्त्तम् ।
मर्त्यं पुनस्त्यं यदिदं च मूर्त्तं मर्त्येऽक्षिणि सूर्ये पुरुषोऽमृतोऽस्ति ॥
प्राणो हि मर्त्योऽप्यमृतोऽपि भेदान्मनोविकारं तु विकारिणी वाक् ।
वागेव पूर्वं हि विकारमेति प्राणो नियुक्तो मनसा नियुङ्क्ते ॥
वाचो विकारादथवा विकाराः प्राणे मनस्यप्यविशेषतः स्युः ।
प्राणो मनो वागथवाऽविशेषादपूर्वमुत्पाद्य च न क्षिणोति ॥
अर्द्धेन वाऽपूर्वमुदेत्यमीषामर्द्धं स्वतस्तिष्ठति निर्विकारम् ।
वाचो हि वीचिं विसृजन्ति घातात् सर्वाणि भूतानि नयन्ति हानिम् ॥

वेदाः समस्ता मनसो विकारा यज्ञा अमी प्राणविकारतः स्युः ।
❀
प्रजास्तु सर्वा इह वाग्विकाराः सर्वे निजं योनिमुपाश्रयन्ते ॥
वेदाश्च यज्ञाश्च न भिन्नसत्तास्तस्मात् प्रजास्ता न भवन्त्युदीर्णाः ।
वाचो विकारा अतिरिक्तसत्ताः सत्तातिरेकाद्धि मतं प्रजात्वम् ॥
यस्मादयं प्राण इदं मनश्च द्विधास्ति तस्मादपि वाग् द्विधाऽस्ति ।
यथा मनः कामयते तथाऽयं प्राणश्चरन् वाग्विकृतिं करोति ॥
मनोऽमृतांशा भवदस्ति तेन प्राणोऽमृतः सोम इति प्रसिद्धः ।
तन्मृत्यवे तेन यमोऽस्त्युभाभ्यां कृते मनस्यग्निरभूद्विरूपः ।
सोमोऽमृतं मृत्युरयं यमः स्यादग्निस्त्वयं मृत्युरथामृतं च ।
अग्निर्यमः सोम इति त्रिधाऽयं प्राणस्ततः सर्वविधास्ति सृष्टिः ॥
सोमेऽग्निसृष्टे भवतीह सृष्टिर्यमेन सोमे विहितेऽर्थनाशः ।
अग्नौ तु सोमान्वयतोऽर्थसिद्धिर्यमात्तु सोमोच्चयतोऽर्थ नाशः ॥
सोमाग्नियोगादभवन्निहापो वाग्लोकतो वाच इमाः प्रतीयात् ।
सोमो मनः प्राण इहाग्निरापो वाचस्त्रयाणां त्रिषुभूरियोगात् ॥
देवाश्च भूतान्यभवन्निहाद्भ्यस्तत्तैत्तिरीयैः स्मृतमैतरेयैः ।
देवैश्च भूतैः कृतमस्ति विश्वं नैभ्यो विना किञ्चिदिह प्रतीमः ॥
सोमोऽमृतेऽग्नावशितस्तु देवः सोमेऽमृतोऽग्निर्यदि भूतमेतत् ।
भूतेषु देवाः प्रविशन्ति पृथ्व्यां देवेषु भूतानि दिवि स्थितानि ॥
चित्योऽग्निरुर्व्यां स हि भूतसङ्घो निधेयमग्निं त्वनु तत्र देवाः ।
चित्यो दिवीन्द्रः स हि देवसङ्घो भूतानि तत्रानु निधेयमिन्द्रम् ॥
सोमेऽग्निरेष ध्रियतेऽथवाग्नौ सोमो हुतो भुज्यत इत्थमित्थम् ।
कर्म्मास्ति यज्ञः स च वेदतः स्याद् यजुर्विशेषोऽग्निरयं हि सोमः ॥
रसो यजुर्नाम यदस्ति सोऽग्निर्द्विधायमाख्यायत चित्य एकः ।
चितेर्निधेयस्तु परोऽथ चित्या मर्त्या निधेया अमृताः प्रजाःस्युः ॥
मर्त्यानि भूतानि वदामि तेषां लोका विशेषा वियदादयःस्युः ।
देवान् वदामि त्वमृतानथैषां लोका विशेषा ऋषिपूर्वकाः स्युः ॥
सत्यं मनः प्राणमयं तपः स्याज्जनो महः स्वश्च भुवश्च भूश्च ।
ये चर्षयो ये पितरोऽथ देवासुरा मनुष्या अमृताः प्रजास्ताः ॥

❀ "वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति" शत० १।२।५।६

सत्यं मनः प्राणमयं तपः स्याज्जनो महः स्वश्च भुवश्च भूश्च ।
आकाशवायू अपि तेज आपः पृथ्वी प्रजास्ता इह मृत्युमत्यः ॥
भूतानि चित्योऽग्निरिदं शरीरं देवा निधेयोऽग्निरयं शरीरी ।
चित्यो निधेयेन विना निधेयः कदापि चित्येन विना न भाति ॥
ऋष्यादयः सन्ति तु देवता इमाः पितृप्रसूतानि तु दैवतानि हि ।
ता देवतास्तानि च दैवतान्यपि प्रचक्षते देवपदेन तुल्यवत् ॥
देवो द्विधेत्थं प्रथतेऽग्निसोमप्रभेदतो योऽमृतेमृत्युभेदात् ।
द्विधोभयोऽप्यस्य मृतोऽग्निरुक्तः शिवोऽथ मृत्युस्तु यमश्च घोरः ॥
शिवो द्विधा तत्र च प्रातिलौकिकास्त्रयोऽग्निवायुद्युमणिप्रभेदतः ।
त्रिष्वेषु विश्वेषु नयन्ति ते यतो विश्वानरा इत्यभिविश्रुतास्ततः ॥
भौमाग्निभेदा वसवोऽष्टरुद्रा वायोः प्रभेदा दश चैकयुक्ताः ।
सूर्यस्य तु द्वादश चादितेया द्वावश्विनौ चेति भवन्ति देवाः ॥
स गार्हपत्योऽस्ति हि पार्थिवो यो दिव्योऽग्निरेवाहवनीय उक्तः ।
अष्टौ तु धिष्ण्यान् विदुरान्तरीक्ष्यान् दशाक्षरं प्राह विराजमन्यः ॥
वैश्वानराः सन्ति तु सार्वलौकिका जातास्त्रिभिस्तैरथ ते चतुर्विधाः ।
नारायणो भूपतिरन्य उच्यते भूतेश्वरोऽन्यो भुवनेश्वरः परः ॥
निर्वृच्छुचिः पावकपावमानावित्थं चतुर्धाग्निरयं च घोरः ।
पृथ्व्यां च तेजस्यधिवायु चाप्सु प्रतिष्ठिताः सोमविरोधिनस्ते ॥
घोरास्त्रयः पावकपावमानशुचिप्रभेदादिति मन्वतेऽन्ये ।
तेषां यमोऽन्यो निर्ऋतिस्तदित्थं निरूपितः सर्वविधोऽग्निरेषः ॥
सोमोऽमृतं स द्विविधोऽस्ति चन्द्रो विचक्षणः सायतनश्च भिन्नः ।
यो भास्वरोऽनायतनो दिगाख्यः सोऽन्यो द्विधाऽप्यग्निवदेव देवः ॥
यद्वारि तन्मृत्युमनोऽस्ति सोमोऽमृताग्निसोमादयमस्ति मर्त्यः ।
सोमोऽमृतोऽग्नावमृते हि दग्धोऽग्नित्वं व्रजेत् वारि तु नास्ति दाह्यम् ॥
प्रजापतेरीशितुरादिमस्य मनांसि यावन्ति यथा भवन्ति ।
प्राणा विकुर्वन्ति तथैव वाचः प्रजाहिता एव विकारभूताः ॥
मनोविशेषात् स्वत एव चैता वाचो हि नानाविधतामुपेताः ।
तथैव च प्राणविशेषतस्ता विभिन्नरूपान् जनयन्तिभावान् ॥
प्राणाः पृथक् सन्ति न वाचमन्तरा वागन्विताः प्राणविधाः प्रजा मताः ।
तत्रादितः प्राणविधास्तु सप्तधा विभागमाप्ता ऋषयः प्रकीर्त्तिताः ॥

प्राणो हि वाचां प्रथमप्रयोक्ता यो वाङ्मयश्चैतमृषिं वदन्ति ।
ते चर्षयोऽनेकविधस्वभावास्तज्जातयस्तेन भवन्ति भिन्नाः ॥
विजातिनानर्षिसमन्वयात् पुनर्भवन्ति केचित् पितरः पृथग्विधाः ।
नानापितॄणां च समन्वयात् पुनर्भवन्ति देवासुरभिन्नजातयः ॥
नानर्षियोगात् पितरः स्युरेते चानेकधानेकविधैर्युतैस्तैः ।
देवोऽस्ति भास्वानसुरस्तु भास्वान् प्राणा अमी वाङ्मनसान्विताः स्युः ॥
ज्योतिष्मती देवपुरी हिरण्मयी विद्या परज्योतिरियं तु राजती ।
अज्योतिरायत्युदिताऽऽसुरी पुरी वसन्ति तेस्वासु पुरीषु पूरुषाः ॥
सौरी प्रभा देवपुरी हिरण्मयी ज्योत्स्ना पितॄणां नगरी तु राजती ।
छाया भुवश्चन्द्रमसश्च साऽऽसुरी प्राणास्तदीयाः पुरुषाह्वयोऽऽपि ते ॥
प्राणाधिकाल्पत्ववशादिहैकोऽन्नादो भवत्यन्नविधोऽन्य एकः ।
अन्नादमग्निं प्रवदामि तस्यैवान्नं भवन्तं तु वदामि सोमम् ॥
भोक्ता महाप्राण इहाथ भोग्योऽल्पप्राण एतौ विदुरग्निसोमौ ।
विकस्वराग्निप्रततं स सोमः संकोचयन सान्द्रमिदं करोति ॥

प्रजाभक्तयः ।

आसीत् स आत्मा त्रिवृदेकवत् क्वचिन्मनोमयः प्राणमयः स वाङ्मयः ।
इच्छन् स तप्यन् श्रमतः प्रजापतिः करोति नानाविधसृष्टिसर्जनम् ॥
प्राणः स कामादिव खण्डखण्डवत् भवन् स वाचं कुरुते च खण्डवत् ।
अन्तर्बहिर्व्याप्य स वाचमात्मनो गर्भे दधानः कुरुतेऽणुसर्जनम् ॥
प्राणा हि सोमाग्नियमास्त्रिधा स्युः सजातयो नत्वणवो मिलन्ति ।
यमाग्नयो वायव आप एताः सोमाग्नितः स्युमृदियं त्रिभिः स्यात् ॥
यमोऽल्पसोमं विभिनत्ति तेनापो वायुतां यन्ति यमाग्नियोगे ।
त्वापो मृदः स्युस्त्वथ तारतम्याद् योगेऽप्यमीषां बहवो भिदाः स्युः ॥
आसञ्जनं तत्र विधारणं तथा प्राणस्य यल्लक्षणमुक्तमादितः ।
ताभ्यामणूनामिह तारतम्यतो योगात्क्रियन्ते विविधार्थसृष्टयः ॥
पात्रेऽम्बु तत्राम्बुनि शर्करा यथा प्राणे तथा चेदणवः स्युराहिताः ।
गृह्णन्ति नैते तु मिथस्तथापि ते पृथग् यतो यन्ति न तद्विधारणम् ॥
प्राणा बहिर्धापि समन्ततोऽणोर्भवन्ति गृह्णन्ति परस्परं ते ।
तेषां मिथः संग्रहमष्टधाहुस्तत्रेदमासञ्जनमस्य हेतुः ॥

स्यात्पृष्ठतो वोदरतोऽसुयोगोऽणुपृष्ठयुक् प्राणयुगं स वैकः ।
परासुगर्भेऽणुयुगं स वैकः पृष्ठेन नाभ्याप्यथवाऽणुयोगः ॥
प्राणास्तदित्थं क्रमतो यथेह यद् वाचोऽकरोत् व्याकरणं तदुच्यते ।
आसीत्तदाकाशमयी तु वागियं व्योम्नो विशेषा अभवन् क्रमादिह ॥
कालेन वाचः प्रबभूव वायुः सर्वं जगद् वायुमयं तदासीत् ।
तेजोविशेषा अभवन् क्रमेण ततोऽभवद्वारि ततश्च पृथ्वी ॥
अपां विशेषाः पृथिवीविशेषाः क्रमात् यदानीमभवन समन्तात् ।
तैस्तैर्विशेषैः समवेत्य काले महान्ति भूतानि तथा बभूवुः ॥
यथा यथा चोत्तरतोऽन्यसृष्टिः प्रवर्द्धते तत्क्रमतो ह्रसन्ति ।
अग्रे यथा सन् बहवः स्रवन्त्यस्ताः चीणनष्टा अधुना बभूवन् ॥
स्थूलेऽणुभूतानि सितानि तत्र प्राणो मनश्चान्तरतः प्रविष्टे ।
एतावदेवाखिलविश्वमासीत्रान्यन्मिषत् स्यादिति तर्कयामि ॥
स्वतःप्रकाशाः परतःप्रकाशा रूपप्रकाशा बहवोऽथ पिण्डाः ।
स्थूलैश्च सूक्ष्मैः समवेत्य भूतैः काले बभूवुः परितश्चरन्तः ॥
अत्यन्तमित्थं प्रतिमूर्च्छितं मनः स्थान घनत्वाय यतो न विन्दति ।
ततो विपर्य्येति मनोगतिः पुनर्ज्ञानोदपाय प्रतिबुध्यति क्रमात् ॥
पिण्डेषु तेषु क्रमशः पुरस्तान्नानाप्रकाराः खनिजा बभूवुः ।
उद्भिज्जभेदा अथ जीवनानां नाना प्रभेदाः क्रमशो बभूवुः ॥
एतावती सृष्टिरभूदिदानीं यावद्धविष्यत्यथ किञ्चिदूर्ध्वम् ।
सृष्टिप्रवाहस्य न चास्ति निष्ठा वर्षैः सहस्रान्तरितैस्तु क्लृप्तिः ॥

अन्नादनुकल्पः ।

प्राणो निबद्धं नितरां मनस्तत् प्राणः प्रबद्धः प्रतरां तु वाचि ।
सृष्ट्या यथा वागियमन्यरूपा प्राणो मनश्चानुगते तथान्ये ॥
मिथस्त्रयं स्यादिदमन्नमन्नाद् विस्रंसते तत्परतोऽद्यते यत् ।
विस्रस्तिरेषां द्विविधास्ति साक्षात्परम्परातश्च तथान्नभोगात् ॥
उत्सीदति प्राण इदं मनश्च वाक् स्वतः स्वतोऽन्यैरपकृष्य भोजनात् ।
प्राणो मनस्त्वं च स वाक्त्वमागतो व्युच्छिद्यते वेत्युभयी विधेद्यते ॥
अन्नं जलं तेज इदं स वायुर्वाग् वा बलं ज्ञानमजस्रमत्र ।
प्रभुज्यते तेष्वतिहीनयोगाद् विरुद्धयोगाच्च भयं च रोगः ॥

तेजो रवेर्वायुमथान्तरिक्षाद् वाचं श्रुताश्च स्वत एव भुङ्क्ते ।
बलं तु कर्म्मेन्द्रियतः श्रमाच्च ज्ञानं प्रगृह्णाति च धीन्द्रियेण ॥
सर्वत्र हीनातिविरुद्धयोगादनिष्टमुत्पद्यत इत्यवैमि ।
अन्नग्रहे चात्मविसर्जने वा प्रज्ञापराधो भयहेतवे स्यात् ॥
मनःप्रभृत्यात्मनि मृत्तिकान्तं यदस्ति वत्संयुतमन्यदन्नम् ।
विरुध्यते चेत्तदनिष्टकृत् स्याद् रुग्भीतिकृद्ध्यात्मविरुद्धमेतत् ॥
वागर्थमश्नाति बलं भुनक्ति प्राणो मनो ज्ञानमलं भुनक्ति ।
विरुद्ध विज्ञामवाप्य सद्यः क्षुभ्णाति, विद्वेष्टि बिभेति हन्ति ॥
यथाल्पसारः प्रबलाक्रमेण प्रपीड्यते तद्वदिहाल्प चेताः ।
विरुद्धविज्ञानमवाप्य सद्यः क्षुभ्णाति, विद्वेष्टि बिभेति हन्ति ॥
यथाल्पसारः प्रबलाक्रमेण प्रपीड्यते तद्वदिहाल्पचेताः ।
विरुद्धविज्ञानमवाप्य सद्यो धैर्य्यच्युतः स्यान्न तथा विपश्चित् ॥
सप्तस्वपि व्याहृतिषु प्रसन्नाप्रसन्न-भेदाद् बहवो विशेषाः ।
कांश्चिद्विरुन्धन्ति च केचिदेषां मेद्यन्ति केपीति पृथक् प्रविद्यात् ॥

यौगिकदर्शनम् ।

(*मिश्रणम्*)

संमिश्रणे यत्र तु योगिनस्ते पृथक् पृथक् स्रग्मणिवद् विभान्ति ।
मार्दे जलं वा लवणं जले वा तद् यौगिकं द्रव्यमिदं न रूढम् ॥
भुक्तं च भोग्यं च तदित्थमन्नं द्विधास्ति तत्र प्रतिभुक्तमन्नम् ।
भोक्तुः स आत्मा भवतीति नेदं ततः पृथक्त्वादिव दृश्यतेऽस्मिन् ।
यावत्परेभ्यस्त्व बलेभ्य एभ्यस्तद्भुक्तमात्रं हि शरीर रूपम् ॥
पूर्णोऽयमात्माऽप्यबलोऽथवा चेदाकृष्यते तत् प्रबलस्य भोग्यम् ।
यत्रात्मना केनचिदात्मनोऽर्थे भोगान्यनेकानि समाहृतानि :
अन्नान्नभुक्त्वं न मिथो यदैषां तन्मिश्रणं यौगिक भाव इष्टः ॥
भिन्नात्मनां वा क्वचिदेकदेशे चेत् संस्रवः स्यान्न मिथस्तु तेषाम् ।
अन्नान्नभुक्त्वं भवतीति तादृक् संमिश्रणं यौगिकः स्यात् ॥
देहस्त्वचासृक्पललास्थिमज्जासमुच्चयः केनचिदात्मनात्तः ।
नानार्थसंयोगकृतो रथोऽसावेकात्मभूतश्च स यौगिकःस्यात् ॥

व्यूहश्चतुर्वर्गः = चतुर्व्यूहः ।

षण्णाममीषां सह संभवश्चेदेकं तमात्मानममी गृहीत्वा ।
निर्वाहयन्ति क्वचिदेकतन्त्र्यं व्यूहश्चतुर्भिर्ध्रियते स वर्गैः ॥
रूपं त्रिसत्यं महिमा शरीरं वित्तं पुनर्यौगिकमर्थजातम् ।
एषां पुनः कल्पत एक आत्मा सोऽयं चतुर्व्यूह इति प्रतीयात् ॥
अव्याकृतं पूर्वमिदं यदासीत् प्रजापतिर्व्याक्रियते स पश्चात् ।
नाम्ना च रूपेण च कर्म्मणा च प्रख्यायते व्यूहविधः स एकः ॥
प्रजापतिर्यः प्रथमोऽस्ति तस्मिन् प्राणस्य वाचो मनसश्च धर्म्मैः ।
व्यूहाश्चतुर्भिर्विहिताः पृथक् स्युः स्तदात्मतद्रूपशरीरवित्तैः ॥
अखण्ड आत्मा स परात्परो यो रूपं त्रिसत्यं प्रचयं महिम्नाम् ।
शरीरमाहुस्तदिहान्तरङ्गं पोषं तु वित्तं बहिरङ्गमाहुः ॥
सर्वान्तरो योऽस्ति स नभ्य आत्मा सोऽव्याकृतः कश्चन निर्विशेषः ।
त्रिसत्यमस्यात्मन एव रूपं सोऽस्यानिरुक्तस्य निरुक्तभावः ॥
मनोमयं प्राणमयं च वाङ्मयं ब्रह्मेन्द्रविष्णू च यदक्षरत्रयम् ।
त्रिसत्यमन्तर्यमयत्यशेषतः शरीरमन्तर्हृदि तत्प्रतिष्ठितम् ॥
वेदाश्च यज्ञाश्च विशश्च लोकाः सोमाग्निजैरस्य शरीरमेतैः ।
शरीरमात्मायतनं प्रविद्यात् तदन्तरे संश्रियते त्रिसत्यम् ॥
पोषं विदुर्वित्तमिदं च पञ्चधा वीर्यं यशः श्रीः पशवः प्रजा अपि ।
ब्रह्मादिवीर्य्यं यश आह सौमिकं श्रीरग्निजा द्यौः पशुरन्नजाः प्रजाः ॥
आगन्तुकं किञ्चिदनित्यमस्मिन् देहे यदेवो न्नमत्यपैति ।
यदागमे यद्विगमेऽपि देहो नापैति रूपात् तदिहास्य वित्तम् ॥
कार्श्यं च पुष्टिश्च तिलादिचिन्हं रोगाश्च विद्याश्च तपो बलं च ।
वस्त्रं च जाया-सुत-बन्धु-भृत्याः पशुर्गृहंरा इति वित्तवर्गः ॥
अव्याकृतं चाथ मनश्च वेदाः सर्वैषणाश्च प्रथमं चतुष्कम् ।
अव्याकृतं प्राण उतैष यज्ञोऽन्यान्यात्मयज्ञाश्च तथा द्वितीयम् ॥
अव्याकृतं वागथ भूतदेवा अन्यप्रजा अत्रगतास्तृतीयम् ।
एकैक आत्मा स दशाङ्ग इत्थं प्रजापतिर्नाम भवेत् प्रसिद्धः ॥
नभ्योऽयमात्माऽस्ति स निर्विकारस्त्रयो विकारास्तु तदाश्रिताः स्युः ।
रूपं शरीरं च तथास्य वित्तं नभ्योऽयात्मा प्रधिरस्य वित्तम् ॥

वेदाश्च यज्ञा अथ याः प्रजास्ता वित्तानि चात्रोपनमन्ति यानि ।
एतानि सर्वाण्युपकारकाणि निरुक्तमूर्तेर्महिमानमाहुः ॥
वित्तं तदेतद् बहिरङ्गमेकं त्रीण्यन्तरङ्गाणि पराणि यानि ॥
प्रजापतिः स त्रिवृदेव तस्मात् वित्तेन तेन प्रदिनोति शेषे ॥
अनिरुक्तः स हि महिमभिरतिरिक्तः शुद्ध आत्मा यः ।
बलवद्रसः परात्पर इष्टो भूमाऽणिमा चायम् ॥
अन्तर्यामी शारीरिको मनः प्राणवाङ्मयस्त्वात्मा ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपः सोऽभाग्निजमहिमभिर्महितः ॥
श्रीभिर्यशसा वीर्यैः पशुभिः पुष्टस्तु विष्णुनाकृष्टैः ।
आत्माऽयं शिपिविष्टो विद्यादित्थं प्रजापतिं त्रेधा ॥
यः कश्चिदेव क्वचिदस्ति नाम प्रजापतिः स्यात् त्रिवृदेव सोऽर्थः ।
व्यक्तः स सर्वोऽथ तदन्तरात्मा तदन्तरात्मास्ति च निर्विशेषः ॥
प्रजापतिर्नभ्य इहानिरुक्तः सत्यत्रयं यत्र निरुक्तमूर्तिः ।
वेदैश्च यज्ञैः सहितः प्रजाभिर्वित्तैश्च सर्वैः स हि सर्वनामा ॥
किं शब्दतः स्यादनिरुक्त उक्तो यच्छब्दवतस्त्वेष निरुक्तमूर्तिः ।
तच्छब्दतो वक्ति तु सर्वसंज्ञं त्रिधा स एको व्यपदिश्यतेऽर्थः ॥

प्रजापतिपञ्चस्कन्धाः ।

सत्यैस्त्रिभिः सत्य इति प्रसिद्धो वेदैस्त्रिभिर्वेद इति प्रतीतः ।
प्रजापतिर्यज्ञमयोऽप्र एको देहेऽस्य ते पञ्चविधा पृथक् स्युः ॥
व्योम्नि स्थितो यः परमे परात्मा परोरजा नाम स एक आदौ ।
महिम्नि तस्याऽनुदिशं क्रमन्ते सूर्या असंख्या अणवो महान्तः ॥
त्रैलोक्यमेतन्महिमास्ति सूर्यस्यैतस्य या द्यौः पृथिवी च येयम् ।
तदन्तराले च यदन्तरिक्षं यत्रैष चन्द्रः क्रमते समन्तात् ॥
महिम्नि सूर्यस्य विभाति पृथ्वी महिम्नि पृथ्व्याः पुनरेष चन्द्रः ।
पृथ्व्याश्च पृष्ठे त्रिविधा हि जीवाः स्कन्धानिमान पञ्च पृथक प्रतीयात् ॥
एकैकदेहे प्रभवन्ति यद्यप्यन्ये क्रमादुत्तरतश्च ह्रस्वाः ।
तथापि तुल्यं प्रभवन्ति सत्या वेदाश्च ते यज्ञमयाश्च सर्वे ॥
वेदाश्च लोकाश्च तथैषु देवाः सत्यानिचास्मिन्द्विविधानि सन्ति ।
प्रजापते रूपमिदं निरुक्तं श्रुतिर्हि तद्विज्ञमिह स्तुवीते ॥

"यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥"

स्कन्धव्यूहः=व्यूहानुव्यूहः ।

स एष वाक्प्राणमनोमयोऽर्थो वेदप्रजायज्ञमयः स वित्तः ।
प्रजापतिः स्यादणुरूप एतेऽणवस्त्वन्ता प्रथिता विचित्राः ॥
इच्छाविभेदादपि वित्तभेदादेतेऽणवो भिन्नविधा भवन्ति ।
सजातयो वाथ विजातयो वा मिथोऽनुयुञ्जन्ति च विद्विषन्ति ॥
स्कन्धाश्च नाना प्रभवन्ति तेषामन्योन्ययोगाद् बृहदल्पमात्राः ।
स्कन्धाश्च तेऽन्योन्ययुता अनेकान् स्कन्धान् पुनस्तान् जनयन्ति भिन्नान् ॥
स्कन्धा अपीमे प्रभवन्ति तद्वन् मनोवचः प्राणमया विशेषात् ।
वेदप्रजायज्ञमयाश्च तेषां वित्तानि चान्यान्यविधानि सन्ति ॥
लोष्टं च पात्रं वसनं समिद्वा शिला मणिर्वारि शिखी मरुद्वा ;
यदेव किञ्चित् कचिदस्ति सर्वं स्कन्धात्मकव्यूहकृतं तदीक्षे ॥
सूर्य्यश्च चन्द्रः पृथिवी च जीवाः स्कन्धा इमे तत्र पृथक् त ऊह्याः ।
व्यूहाश्चतुर्धर्म्मकृता न कोऽपि स्कन्धो विनाव्यूहकृतोऽत्र दृष्टः ॥
वित्तं महा द्यौ स्तनुरस्य रूपं ज्योतिर्यदात्मा मन एष सूर्य्यः ।
गन्धर्ववित्ता तनुराप एवं ज्योतिर्मयः प्राण उदेति चन्द्रः ॥
अग्निप्रधानोऽस्त्ययमेष सूर्यः सोमप्रधानस्त्वयमस्ति चन्द्रः ।
सोमाग्निसंसर्गकृतास्ति पृथ्वी त्रिभिस्तु तैः संभवतीह जन्तुः ॥
जन्तोश्च सोमप्रचयोऽस्ति देहो देही च तत्राग्निमयोऽऽथ देहे ।
अग्नेर्हि रूपाणि समस्तदेवा या रेतसः सृष्टिरयं स सोमः ॥
यद् दृश्यते सोममयः स देहो न दृश्यते सोऽग्निमयोऽग्नि देही ।
मुखाच्च योनेरपि पाणिपादादग्निः समिन्धे तदलोमकास्ते ॥
ब्रह्मैव तत्प्रागभवन्मनस्तद् ये ज्ञानसम्पत्तिकृतश्च देवाः ।
क्षत्रं ततः प्राणमयं स चक्रे तद्वीर्य्यसम्पत्तिकृतश्च देवान् ॥
विशं ततो वाङ्मयमेष चक्रे तानर्थसम्पत्ति कृतश्च देवान् ।
शौद्रं च वर्णं स ससर्ज पुष्टिर्यस्मादथो सत्यमयांश्च धर्मान् ॥
अथैषणाः स्युस्त्रिविधा अमुष्मिन् जाया प्रजा वित्तमिति प्रभेदात् ।
यावन्न ता विन्दति तावदात्मा भवत्यकृत्स्नः प्रधिरस्य वित्तम् ॥

वागादिरूपं सकलाश्च देवाः शारीरकं त्र्येषणमस्ति वित्तम् ।
अग्नेश्च सोमस्य तथेन्द्रियार्था भूतानि जायादि च विद्धि तानि ॥
प्रजापतेस्तन् मन आदिरूपं व्यूहास्तु सोमाग्निकृताः शरीरम् ।
जायादिकं तत्र यमेव वित्तं प्रतिप्रजापत्यवधेयमित्थम् ॥
सोमः स चन्द्रोऽग्निरयं तु सूर्य्यस्ते ज्योतिषी अप्सु दिवि प्रविष्टे ।
सोमोऽन्नमन्नाद इहास्ति सोऽग्निर्व्यूहास्तयोरेव हि देहिदेहाः ॥
प्रजापतिर्यः परमेश्वरोऽसावाद्योऽस्ति सद्व्यूहगतास्तु धर्म्माः ।
सोमाग्नयः सन्ति समा अनन्ता आत्मा च रूपं च शरीरमेषाम् ॥

त्रैगुण्यसंचारः ।

पृथ्व्यम्बुतेजोऽनिलखानि यानि वा भूतानि ये तत्कृतविग्रहा अमी ।
वाक् सा बहिर्धाऽन्तरतः क्रियामयः प्राणास्तदन्तस्तु मनोऽस्ति चेतनम् ॥
प्राणोऽसदाख्यः सदसन्मनस्तद् वाचं विदुः सत्पदतस्तदित्थम् ।
सर्वाणि वाक्प्राणमनांसि तस्मात् प्राहुः समस्तं सदसत्पदेन ॥
ज्ञानस्य धारा भवतीह चेष्टा धारा तथा द्रव्यविसृष्टिधारा ।
पृथग् जगत्यत्र पृथक् तथाण्डे पृथक् शरीरे च तथात्मनस्ताः ॥
यन्नेत्रसंस्थानमिदं तु भूतं प्राणास्तु ते या इह सन्ति चेष्टाः ।
मनोऽत्र तच्चाक्षुषबोधरूपं चक्षुस्तदित्थं त्रिभिरिन्द्रियं स्यात् ॥
यच्छोणितं तद्भवतीह भूतं प्राणास्तु ते या इह सन्ति चेष्टाः ।
मनोऽत्र तत्स्पार्शनबोधरूपं त्वगिन्द्रियं तत् त्रिवृदेवमन्यत् ॥

आत्मानात्मविवेकः ।

शरीरमेतच्च शरीरमध्ये यदस्ति किञ्चिद्बहिरन्तरं वा ।
एकः स आत्माऽस्त्यखिलोऽखिलानां तत्कर्म्मणां ब्रह्म च साम चोक्थम् ॥
वाचो विकारा इह पार्थिवा ये भूतानि तानीह शरीरमाहुः ।
वाचोविकारा इह ये तु दिव्या देवास्त आत्मा सशरीरगाश्चेत् ॥
दिव्याश्च भौमाश्च तथाऽन्तरीक्ष्या वाचां विकारा अखिलाः शरीरम् ।
प्राणान् मनोऽभिः सहितान् विकारस्थितानिहात्मेति वदन्ति साकम् ॥
आत्मानमाहुर्मन एतदेकं प्राणादयन्तस्य जगत्तनुर्वा ।
स्वे वात्मनस्ते जगदेव ये चैश्वरास्तु जीवानुगतास्तनुस्ते ॥

प्राणो मनश्चेत्युभयोऽयमात्मा वाक् तत्प्रपञ्चश्च जगत्तनुर्वा ।
आत्माथ वाक्प्राणमनोमयो वा वाचो विकारास्तु जगत्तनुर्वा ॥
सर्वोऽयमात्माथ तदेव विश्वं पूर्वोऽयमात्मा परमस्ति विश्वम् ।
आत्मशिवाग्जन्यमिदं हि विश्वं तदात्मना भिन्नमभिन्नमाहुः ॥
विश्वं मनस्यात्मनि संप्रविष्टं प्राणोऽयमात्माऽस्ति च विश्वगूढः ।
आत्मैव वाग् विश्वमिदं न भिन्नं विकारदृष्ट्या तु तदात्मभिन्नम् ॥
अणूनि भूतानि च पञ्च तद्वन्महान्ति भूतानि च भौतिकानि ।
एतावती सृष्टिरभूत्तु वाचो विकारतः सा ध्रुवमात्मभिन्ना ॥
उदेति वाग् वाग्विकृतिभ्य आभ्यस्तस्मात्तदर्द्धेन विकारभावः ।
अर्द्धं विकारेऽप्यविकारि शिष्ट वाचाऽस्ति तद्त्रायुवशेन याति ॥
ये वै विकारा अखिलाः पुनस्ते वाग्भावमायान्ति विपर्ययेण ।
तस्माद्विकारोऽप्यविकार एवेत्याहुस्तदात्मैव जगत्समस्तम् ॥

इति प्रजापति परिच्छेदः प्रथमः ॥ १ ॥



विराट्परिच्छेदश्चतुर्थः ।*

—◆—

(१) परमेश्वरदर्शनम् ।

जीवेश्वर परमेश्वराणां विवेकः ।

व्यूहास्तदित्थं प्रचरन्त्यनन्ता व्यूहैरनुव्यूह उदेति कश्चिद् ।
व्यूहः स यः सर्वमयस्त्रिधाऽसौ जीवस्तदीशः परमेश्वरो वा ॥
व्यूहान्निजान् धारयमाण आत्मा पृथक् स वाक्प्राणमनोमयोऽर्थः ।
अन्यानि वाक्प्राणमनांसि जीवेऽन्यानीश्वरेऽन्यानि परेश्वरे स्युः ॥
आत्मा य आसीदयमेक एव स्वतः स सृष्टिक्रमतस्त्रिधाभूत् ।
निःसीमतः प्रागभवन् ससीमा अथो बृहत्सीमभिरल्पसीमाः ॥
तत्राल्पसीमा इह सन्ति जीवास्त ईश्वरा ये तु बृहत्प्रमाणाः ।
न यत्र सीमाऽस्त्यमितः स सर्वव्यूहः स एकः परमेश्वरोऽस्ति ॥
इत्थं स आत्मा त्रिविधः प्रसिद्धो जीवोऽन्य ईशः परमेश्वरोऽन्यः ।
जीवैरशेषैः कृतरूप ईशस्तैरप्यशेषैः परमेश्वरः सः ॥
सर्वत्र वाक्सृष्टिप्रधानबीजं प्राणोऽस्त्युपायोऽथ मनस्तु स्रष्टृ ।
निःशेषवाक्प्राणमनोभिराद्योऽल्पैरीश्वरोऽस्त्यल्पतरस्तु जीवः ॥
प्रजापतिर्नाम य एष जीवो य ईश्वरो यः परमेश्वरः सः ।
विद्याद् विभूंस्त्रीनपि तानथैषां साधर्म्यवैधर्म्यविधिं वदामः ॥

साधर्म्यवैधर्म्ये श्वेताश्वतरोपनिषद् ।

उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं परः क्षरात्मा नावीशते देव एकः ।
तस्याभिधानाद् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

---

* अयं विराट्परिच्छेदः परमेश्वरेश्वरजीवदर्शनात्मकस्त्रिधा परिच्छिन्नश्चतुर्थः ।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चिद् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

श्वेताश्वतरतात्पर्यम् ।

इत्याह शुभ्राश्वतरोऽनिरुक्तब्रह्मस्थजीवेशपरेश्वरांस्त्रीन् ।
जीवान्तरेशान्तरमद्वयेशं ज्ञात्वाऽत्र योनित्रयमुक्तिमेयुः ॥
संयुक्तमत्र क्षरमक्षरं चैतच्चोभयं संभरतीश्वरोऽन्यः ।
अनीश्वरो बुध्यति किन्तु नेष्टे जीवः स पाशं त्यजतीशबोधात् ॥
बोधस्त्वविद्यादितमोविमोकोऽभिध्यानतो वेश्वरयोगतो वा ।
ताद्रूप्यतो वा भवतीश्वरैक्यं जीवो हि बुध्यन् भवतीश एव ॥
विद्यामयो हीश्वर एष च ज्ञोऽविद्यामयोऽज्ञः पशुरस्त्यनीशः ।
अजा त्वविद्यात्रयतोऽर्थभोगा अकर्तृरूपः परमेश्वरोऽन्यः ॥
एतत् त्रयं यत्र समन्वितं सत् स्थितं न तस्मात्परमस्ति किञ्चित् ।
जीवेश्वरो वा परमेश्वरो वा तत्रैकवद् ब्रह्म मतं ममैतत् ॥
क्षराणि रूपाणि बहिः स आत्माऽक्षरस्तदन्तर्निहितोऽन्तरात्मा ।
तावीश्वरोऽन्यो विभवेत् तथात्वं तद्ध्यानतद्योगतदात्मताभिः ॥
विद्येश्वरे जीवगतास्त्यविद्या विद्यामृतं मृत्युरियं त्वविद्या ।
तद्भोक्तृभोग्यार्थयुतिस्ततः स्याद् भोग्यं क्षरं त्वक्षर एष भोक्ता ॥
अथो तृतीयः परमेश्वरः सोऽकर्तास्त्यनज्ञोऽपृथगत्र विद्या ।
न चास्त्यविद्यात्र विलीयते सा ब्रह्मानिरुक्तं त्रितयाविशिष्टम् ॥
क्षराक्षरद्वन्द्वमयं तु जीवं य ईश ईष्टे यदि जीव एतम् ।
ध्यायाच्च युञ्जीत च तन्मयः स्यादविद्यया तर्हि विमुच्यते सः ॥

पञ्चक्लेशविमर्शः ।

प्रवर्तते जन्म मतिभ्रमो यतः क्लेशैरविद्याप्रमुखैश्च पञ्चभिः ।
पाशास्त उक्ता न त ईश्वरे स्थिता विद्यामयं वेत्ति तमेत्य पाशताम् ॥

कर्मान्वितो जीववदीश्वरोऽपि क्लेशास्तु नो संसृतिबीजमैशे ।
तन्नेश्वरा यान्ति हि जन्म मृत्वा जीवाः पुनर्जन्ममृती लभन्ते ॥
मुक्तिर्भवेन्निर्गुणयाऽऽत्मविद्ययासद्यः क्षयात् क्लेशसमूह बन्धयोः ।
विद्यास्युपास्तिः सगुणा ततः क्रमान्मुक्तिः समस्ता अपि कामसम्पदः ॥
जीवोस्ति भोक्ता जगदस्ति भोग्यं तयोर्नियन्तेश्वर इत्थमेतत् ।
ज्ञेयं त्रयं यत्र विभाति तस्मान्न किञ्चिदन्यत् परमेश्वरात्स्यात् ॥

जीवस्वरूपादेशः ।

शब्दः समुत्पद्य समन्ततः स्याद्विसृत्वरो वर्तुलवृत्तरूपः ।
वायुर्यदा संभ्रियते तदैषा भस्त्रा भवेद्वर्तुलवृत्तरूपा ॥
निपात्यमानस्य जलस्य बिन्दुः स्वयं भवेद्वर्तुलवृत्तरूपः ।
मृदां च याद्या पृथिवीयमादौ बभूव सा वर्तुलवृत्तरूपा ॥
इत्थं स्वतो वर्तुलवृत्तताया हेतुः स आत्मैष तथाविधोऽस्ति ।
नाभिर्मुखं वर्तुलवृत्तवस्तुनो यदस्य पृष्ठं पदमुच्यते तत् ।
अन्तःस्थपृष्ठाद्बहिरङ्गपृष्ठगं सांमुख्यसूत्रं विदुरत्र सर्वतः ॥
जीवास्तदर्द्धाकृतयः प्रजाता अर्द्धं पुमान् स्त्री तु तदर्द्धमन्यत् ।
तेनैकतस्तन्मुखदृष्टिपादा अग्ने हि शक्नोति न सर्वतः सः ॥
कूर्मप्रभावादयमात्मनो वपुर्द्विधा विधायेश्वर एतदर्द्धतः ।
पुमानभूत् स्त्री तु तदर्द्धमस्त्यतो जैवं विराजं द्विविधं सृजत्ययम् ॥
आशीर्षमापादतलं स यावांस्तावान् स बाह्वोस्ततयोः प्रमाणे ।
इत्थं भवन् माण्डलिकोऽपि जीवो न सर्वतोऽङ्गं सममश्नुतेयऽम् ॥

ईश्वरस्वरूपादेशः ।

य ईश्वरस्तस्य मुखं तु सर्वतः प्रसारि तुल्यं क्रमते चतुर्दिशम् ।
स सर्वतोदृक् स च सर्वतः पदः स सर्वमावृत्य च तिष्ठति प्रभुः ॥
"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतः स्यात् ।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥
(श्वेताश्वतरे नारायणीये च)

"एको हि देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥"
(श्वेता॰)

"तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् तस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चिद् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥"
"द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।
दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥"

परमेश्वरस्वरूपादेशः ।

संभावयामः परमेश्वरं तं मुखेन पादेन दृशा च हीनम् ।
स चानवच्छिन्न इतीह नाभिः पृष्ठं च न क्वाप्यवकल्पते हि ॥
"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥
(श्वेता०)

अपाणिपादोऽमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥
"वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥
अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥
"अप्राणचक्षुः श्रुतिवाग्मनश्चारसध्वनिस्पर्शनरूपगन्धम् ।
अव्योमवायूदकभूमितेजोऽनन्तर्बहिर्भ्रमुखं ह्यमात्रम् ॥
(बृह० अ० ३)

"अस्थूलसूक्ष्मं तददीर्घह्रस्वं निःसङ्गमच्छायमनन्धकारम् ।
अरक्तमस्नेहमुताक्षरं तन्न भुज्यते तन्न च तद् भुनक्ति" ॥
(बृह०)

प्रशासनेऽस्य ध्रुवमक्षरस्य त्वादित्यचन्द्रौ च दिवस्पृथिव्यौ ।
संवत्सराद्या अपि कालभेदास्तिष्ठन्ति सर्वे विधृता यथावत् ॥"
(बृह०)

"अदृष्टमज्ञातयथाश्रुतं चामतं च विज्ञातृ तदेव मन्तृ ।
तच्छ्रोतृ तद् द्रष्टृ न चान्यदस्माद् विज्ञातृ च श्रोतृ च मन्तृ द्रष्टृ ॥
(बृह०)

जीवेश्वरपरमेश्वराणां शरीराणि ।

जीवस्य तन्त्रं तु यथा शरीरं यथाण्डमस्तीश्वरतन्त्रमेतत् ।
तन्त्रं तथा यत्परमेश्वरस्य प्राहुर्जगत्तत् तदसीममाहुः ॥
अण्डं शरीरं विदुरीश्वरस्य तथा जगच्चास्य तदण्डमाहुः ।
शरीरमेतच्च तथास्ति जीवस्याण्डं तथा जीवजगत्तदाहुः ।
तदात्मभेदाज्जगदस्ति भिन्नं प्रत्यात्मभिन्नानि जगन्ति सन्ति ॥
पृथक् तु जैवानि तदैश्वरे स्युर्भिन्नानि माहेश्वरगान्यमूनि ॥
तान्यात्मरूपाणि तदात्मनः स्युः पृथक् कदाचिन्न हि नाम तस्मात् ।
जीवः शरीरं च तथेश्वरोऽण्डं जगच्च तद्वत् परमेश्वरोऽस्ति ॥

जीवेश्वरयोः शरीरे त्रैलोक्यव्यवस्था ।

जीवे यथा सन्ति शरीरधातवोऽन्यथा स्थलस्थे च जलस्थितेऽन्यथा ।
तथेश्वरस्यापि शरीरधातवोऽन्यथा निविष्टा इति साधु मन्महे ॥
रसास्तु ऋक्सामयजूंषि वेदा भूतानि भूतानितदस्थि शैलाः ।
यज्ञाः शरीरेऽस्य भवन्ति चेष्टा न लोम चर्मास्ति शरीररूपम् ॥
अध्यात्ममात्मान उतापरे त्रयो भवन्ति लोकत्रयनायकाः पृथक् ।
अग्निश्च वायुश्च रविस्त ईश्वरे जीवे च तुल्या अपि भिन्ननामकाः ॥
सोऽग्निर्विराट् चाथ हिरण्यगर्भो वायू रविः सर्वविदीश्वरे स्युः ।
वैश्वानरस्तैजस एष प्राज्ञो निर्वाहकाः सन्ति तु जीवतन्त्रे ॥
द्यौः शीर्षमुर्वी जठरं च वक्षोऽन्तरिक्षमेषास्ति पृथक् त्रिलोकी ।
स्वे स्वे तु लोके त इमे स्वतन्त्रास्त्रैलोक्यमावृत्य सह स्थिताः स्युः ॥
यान्यात्मसूत्राणि नवेत्थमस्मिन् देहे बहिर्धा च भवन्त्यमूनि ।
अधित्रिसत्यं तदिदं त्रिसत्यं तद् ब्रह्मलिङ्गं मम धारणैषा ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणामात्मत्रयसाम्यकल्पः ।

विराट् च वैश्वानर एष चाग्निर्हिरण्यगर्भस्तु स तैजसश्च ।
वायुः शरीराण्डविभेदतः स्यात् प्राज्ञश्च सर्वज्ञ इमौ रवी स्तः ॥
इन्द्रो रविः प्राणविशेष एष प्राज्ञः स धीसंभवकृच्छरीरे ।
अध्यण्डमिन्द्रोऽखिलरूपकर्ता सर्वज्ञ उक्तः स विकाशमूर्त्तिः ॥

अनाहतनादव्यवस्था ।

आकाशतोऽस्माद्दहरादनाहतो नादो यथाऽयं पवते निरन्तरम् ।
वैश्वानरप्रज्वलनादिवोत्थितः स यावदात्मेह विभाव्यतेऽखिलैः ॥
तद्वन्महाकाशगतोऽप्यनाहतो नादो ध्रुवं संभवतोऽनुतर्क्यते ।
वैश्वानर प्रज्वलनादिवोत्थितः सोऽनारतं तिष्ठति यावदीश्वरम् ॥
ये त्वद्य केचित्प्रवदन्त्यनाहतो नादेन ह्यग्निनिमित्तकोऽस्ति सः ।
कर्णाङ्गुलीरुद्धगतिः स भाव्यते सूक्ष्मान्तरेण प्रविशन् मरुत् क्वणन् ॥
एतच्च नातीव विभाति साधुनः सर्वात्मना रुद्धगमेऽपि मारुते ।
अन्तर्मुखं श्रोत्रगतान्तरानिलद्वारा शृणोत्यान्तरनादमात्मगम् ॥
नादस्य केन्द्रो ध्रुवमस्य कल्प्यते नादावलम्बः स हि बिन्दुरिष्यते ।
बिन्दूत्थितं नादमहं शृणोमि यद्बीजं तदोमित्यवधीयते धिया ॥
तद्वेदबीजं प्रथमः स्वरो ह्यसावव्यक्तयो व्यज्यत आदिवागियम् ।
ततो ह्यकारं प्रतिपद्य तत्र च स्पर्शोष्मिभिर्वाक्प्रचयानकल्पत ॥
प्रक्लृप्तया मातृकया तथा क्रमाद्विज्ञानसम्बन्धकृतप्रकर्षया ।
सर्वः कृतो वाङ्मयशास्त्रसंग्रहो विज्ञानहेतुः स हि वेद उच्यते ॥
इत्थं मतं भागवतेऽन्यरूप्यतान्त्यस्कन्धमध्यायमुपेत्यषष्ठकम् ।
वेदोऽत ओंकारभवः स ईश्वरोद्भवः स वाङ्मय इत्युदीर्यते ॥
तद्वेदबीजप्रणवप्रवर्त्तको योऽनाहतो नाद उदेति तस्य तत् ।
धामास्तिजीवे दहरं* तथेश्वरे पुराणखं नो परमेश्वरे तु तत् ॥
यद्वेदमूलं परमेश्वरः क्वचित् व्याख्यायते यत् तदभिन्न उच्यते ।
स भक्तिवादः परमेश्वरे विभौ ध्रौव्यात् स्थितेरीश्वरजीवयोरपि ॥

जीवशरीरे तन्त्रत्रयसमावेशः ।

अस्मिन्शरीरे परमेश्वरस्येश्वरस्य जीवस्य च तन्त्रमस्ति ।
अण्डे तथास्मिन् परमेश्वरस्येश्वरस्य तन्त्रं न तु जीवशक्तिः ॥
बहिर्जगत्यस्ति न जीवशक्तिः कर्त्री न चापीश्वरशक्तिरत्र ।
एकः स्वतन्त्रः परमेश्वरोऽसौ यथा यथा वेच्छति तत् करोति ॥

* ब्रह्मपञ्चाकाशः ।

स एकतन्त्रः परमेश्वरात्मा द्वितन्त्रसंघस्तु स ईश्वरोऽस्ति ।
त्रितन्त्रसङ्घः पुनरेष जीवस्तन्त्रैस्त्रिभिर्जीवशरीरमेकम् ॥
यत्र स्वतन्त्रो नर आत्मकामाधीनं विधत्ते तदु जीवतन्त्रम् ।
तस्मिन् पराधीनतया यथेच्छं कर्तुं न शक्नोति तदीशतन्त्रम ॥
उत्तिष्ठते तिष्ठति वक्ति शेते यन्मानसं चैन्द्रियकं च कर्म्म ।
जीवाश्रितं तन्निखिलं प्रविद्यान्निवर्त्तते यावदिह प्रसुप्तेः ॥
क्षयोदयौ श्वासगती च देहे त्रैलोक्यसंस्थापि च मेरुदण्डः ।
नाडी रसश्रमं च मांसमज्जे तदीश्वरात्माश्रितमेव विद्यात् ॥
यदस्ति यद्भाति निसर्गतोऽखिलं चात्मोन्नतौ यत्प्रवणं प्रसीदति ।
स एष जीवात्मसु पारमेश्वरः सत्ता चिदानन्दविभाग आहितः ॥
त्रैलोक्यमत्रास्ति तथा शरीरे बहिर्जगत्यस्ति यथा तदेतत् ।
त्रैलोक्यमेवेश्वर इष्यते तद्विसृष्टिकर्ता परमेश्वरोऽन्यः ॥
अहं प्रकाशे यदिमानि कानिचिद् विभान्ति तान्येव जगन्ति मन्महे ।
अगौरवा ज्ञानकृता ममैव सा सृष्टिः स्थितं जीवकृतं जगन्मयि ॥
यत् किञ्च पश्यामि घटं पटं वा मदात्मक्लृप्तान्यहमेव तानि ।
किन्तु ध्रुवं तत्परिकल्पकानि सन्त्येव वस्तूनि बहिःस्थितानि ॥
एतानि मज्ज्ञानकराणि यानि क्वचिद् बहिर्धा स्थितिमन्ति सन्ति ।
अदृश्यरूपाण्यपि तानि विद्याज्जगन्ति जैवान्ययतेश्वरस्य ॥
माहेश्वरं त्वस्ति पृथक् क्वचिज्जगत् दिग्देशकालातिगतं निगूढवत् ।
अतीन्द्रियं केवल चैत्त चिन्तया यद्भाति विद्यामयमद्भुतक्रमम् ॥
कश्चिद्विपश्चित्क्वच कञ्चिदर्थं विचारयन् पश्यति गूढदृष्ट्या ।
सुदूरविन्यस्तमिवार्थसङ्गं क्रमाच्चरंस्तत्र तदैव पश्येत् ॥
तांस्तान् पदार्थानिह नैष कल्पते स्थितानिहेत्येत्विति मन्यते हि सः ।
विद्या हि सा तद्विषया निगूढतो दृष्टा जगत् स्यात् परमेश्वरस्य तत् ॥
इत्थं त्रिधेमानि जगन्ति तन्त्राण्येषां पृथक् सन्ति हि मूलभूताः ।
त्रिधा त आत्मान इमे प्रसिद्धा जीवोऽन्य ईशः परमेश्वरोऽन्यः ॥

बहिर्धा तन्त्रत्रयसमावेशः ।

शरीरवत् तानि बहिर्जगत्यपि त्रीण्यात्मतन्त्राणि पृथक् सहासते ।
माहेश्वरं किञ्चन किञ्चिदैश्वरं जैवं तथाऽन्योऽन्यमिमानि निंसते ॥

यावन्ति वै कृत्रिमवस्तुजातान्यागारवस्त्रप्रमुखानि लोके ।
यावन्ति च स्वार्थपराणि कर्माण्येतानि जैवान्यखिलानि सन्ति ॥
दिवः पृथिव्याश्च तथान्तरिक्षादुत्पद्यमानानि भवन्ति यानि ।
विद्युत्प्रकाशाभ्रधनुःपशूद्भिन्मुखानि तानीश्वरतन्त्रगानि ॥
यदस्ति यद्भाति य एष भूमा सत्ताचिदानन्दमयः स भागः ।
बहिर्जगत्यस्ति महेशतन्त्रोपपन्न इत्थं प्रतिवस्तु विद्यात् ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणामायुर्दायः ।

(१४४)
षड्विनिताऽध्यर्द्धशतायुषः स्युर्जीवाः प्रकृत्यायुरथेश्वरस्य ।
(७२०००)
द्वासप्ततिः कल्पसहस्रभेदानायुःप्रमाणं परमेश्वरे स्यात् ॥
(३६०००) (३६०००) (३६०००)
प्राणाश्च वाचश्च मनोनिकायाः पृथक् पृथक् स्युर्बृहतीसहस्राः ।
हीयन्त एते बृहतीसहस्रै रहोभिरेवेति शतायुषः स्युः ॥
व्यूहन्ति केचिद् बृहतीं विराजा शतेन संवत्सरमाहुरेतम् ।
अहं मनुष्योऽर्कवदस्मि तन्मे संवत्सरः सोर्कगतः क्षिणोति ॥
संवत्सरं तं जगतीं वन्दन्तो व्यूहन्ति केचित् कवयो जगत्या ।
स्याद् द्वादशाहो मम तन्मतेऽयं संवत्सरो व्यूहित एव तेन ॥
संवत्सरेणार्कगतेन सोऽयं संवत्सरो मे ह्रियते क्रमेण ।
तन्मेऽयमध्यर्द्धशतात्समानां षड्विनिताद् विश्लथबन्धनः स्यात् ॥
मानं तु यद्वर्षशतं तदेतत्सामान्यधर्मं न तु तन्निरूढम् ।
जीवन्ति भूयांसि शताद्ध्यमुष्माद्वर्षाणि मर्त्या अपि दैवयोगात् ॥
एतन्मनुष्यायुष एव मानं ततोऽवरेषां तु ततोऽवरं तत् ।
केषांचिदाकस्मिकमस्ति दीर्घं तद् भुक्तिवैचित्र्यवशात्तदूह्यम् ॥
ये त्वीशराकल्पमितं तदायुः केचिद्विदुः कल्पशतं तदायुः ।
युगानि दिव्यानि सहस्रसंख्यान्येकं विदुः कल्पविदो हि कल्पम् ॥
द्वासप्ततिः कल्पसहस्रभेदा मुख्यं मतं किन्तु न निश्चितं नः ।
अतीन्द्रियार्थेष्वनुमानमात्रं यथार्थवेत्ता त्विह नेशतोऽन्यः ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणां स्वातन्त्र्ये जीवतन्त्रम् ।

जीवस्य तन्त्रायतनं शरीरं सर्वं तदायत्तमिहास्ति देहे ।
ज्ञानं क्रियार्थौ इह चात्मनः स्युः स वाङ्मनःप्राणमयोऽयमात्मा ॥

स प्राज्ञवैश्वानरतैजसानां भेदात् त्रिधा प्राण इहाऽस्ति भिन्नः ।
ज्ञानोद्भवे प्राज्ञ इहोपयुङ्क्तेऽथार्थोद्भवे तैजस एवमन्यः ॥
विस्रस्यमानस्य तु संप्रपूर्तिं कुर्वंस्तमर्थं क्षयतोऽनुरक्षन् ।
वैश्वानरो ह्यर्थविशिष्टरूपस्थित्यै सदैवोपकरोति मुख्यः ॥
वैश्वानरो दैहिकभूतधातुं रक्षत्यतो विष्णुममुं प्रतीयात् ।
प्राज्ञोऽयमिन्द्रो वपुषः प्रशास्ता ब्रह्मा सृजत्यत्र स तैजसः सन् ॥

इति जीवतन्त्रम् ।

ईश्वरतन्त्रम् ।

ब्रह्माण्डमस्तीश्वरतन्त्रशाला सर्वं तदायत्तमिहाण्डसंस्थम् ।
ज्ञानक्रियार्था इह चात्मनः स्युः स वाङ्मनःप्राणमयोऽयमात्मा ॥
प्राणोऽत्र सर्वज्ञहिरण्यगर्भविराट्प्रभेदात् त्रिविधः प्रपन्नः ।
ज्ञानाय सर्वज्ञ इहोपयुक्तो हिरण्यगर्भस्तु पदार्थसृष्टैय ॥
विस्रस्यमानस्य तु संप्रपूर्त्तिं कुर्वंस्तमर्थं क्षयतोऽनुरक्षन् ।
विराट् तथैवार्थविशिष्टरूपस्थित्यै सदैवोपकरोति मुख्यः ॥
ब्रह्माण्डरूपाश्रितसर्वधातून् विराडयं रक्षति तत् स विष्णुः ।
सर्वज्ञ इन्द्रो जगतो नियन्ता ब्रह्मा सृजत्यत्र हिरण्यगर्भः ॥

इतीश्वरतन्त्रम् ।

परमेश्वरतन्त्रम् ।

अनन्तविश्वं परमेश्वरस्य स्वतन्त्रशालाऽखिलमस्ति तस्मिन् ।
एकान्ततस्तत्परमेश्वरस्यायत्तं स्वतो वा परमेश्वरोऽयम् ॥
ज्ञानक्रियार्था इह चात्मनः स्युः स वाङ्मनःप्राणमयोऽयमात्मा ।
अयं निधिः पूर्णतमो यतस्ते जीवेश्वराः प्राप्य रसं रमन्ते ॥
अग्निश्च वायुश्च रविश्च तत्र प्राणस्त्रिधोद्यन् विभवत्यजस्रम् ।
ज्ञानोदयायैष रविः स वायुस्त्वर्थोद्भवाय प्रकरोति कर्म्म ॥
विस्रस्यमानस्य तु संप्रपूर्त्तिं कुर्वंस्तमर्थं क्षयतोऽनुरक्षन् ।
अग्निः समग्रार्थविशिष्टरूपस्थित्यै सदा यज्ञविधिं करोति ॥
अग्निश्चिदात्मा निखिलं स चित्या धातूनशेषानवतीति विष्णुः ।
इन्द्रो रविः सर्वजगत्प्रशास्ता ब्रह्मा त्वयं सृष्टिकृदस्ति वायुः ॥

इत्थं विभुष्वेषु विदुस्त्रयाणां भूतात्मना केचन सन्निवेशम् ।
मन्यामहेऽर्वाग्विषयं तदेतत् ते रोदसीमन्वभवंस्त्रयोऽपि ॥

इति परमेश्वरतन्त्रम् ।

अपरेषां परस्मिन् पारतन्त्र्यम् ।

जीवा अनन्ताः पृथगात्मतन्त्रास्त ईश्वरेणानुगृहीतसत्ताः ।
ये चेश्वरास्तेऽपि भवन्त्यनन्ताः सर्वेऽपि ते स्युः परमेश्वरस्थाः ॥
जीवानशेषानयमीश्वरोऽक्षरो व्याप्य स्थितस्तान् प्रभुनक्ति सर्वतः ।
तथेश्वरानेष परेश्वरोऽक्षरो व्याप्य स्थितस्तांश्च भुनक्ति सर्वतः ॥
स एक आत्मा परमेश्वरोऽयं जीवेश्वरास्तत्र वसन्ति वश्याः ।
सर्वे स्वतन्त्रा अपि पारतन्त्र्यं परत्र सिद्धं क्रमशोऽवरेषाम् ॥*
अनन्तजीवायतनं यथेश्वरस्तथेश्वराणां परमेश्वरो घनः ।
राजेव सम्राडिव च स्वराडिव त्रयः क्रमात् स्वस्वजगत्प्रवर्तकाः ॥
स्वराट् च सम्राट् च यथेह राजा प्रशास्ति राष्ट्र स्वमयं स्वतन्त्रः ।
राजाधिकाराद् बहिरस्वतन्त्रः सम्राजमन्वेति स च स्वराजम् ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणां कामनाविवेकः ।

जीवस्य कामाः प्रभवन्त्यनित्या यत्रास्य कामोऽपि न तत्र कामः ।
अथाप्तकामोऽस्ति न सर्वकामोऽपीशोऽस्त्यकामः परमेश्वरस्तु ॥
जीवस्त्रितन्त्रो निजतन्त्रतोऽसौ फलानि कामेन करोति कर्म्म ।
आत्मेश्वरस्तत्र स कर्म्मकामः फलानपेक्षो जनयत्यशेषम् ॥
न चानवाप्तं न च वास्त्यवाप्यं तथापि कर्म्मण्ययमीश्वरोऽस्ति ।
प्राणात्तु कर्म्मास्ति स वै मनस्तस्तस्मान्मनस्वी स हि सर्वकामः ॥

---

*इतोऽग्रे श्लोकद्वयमिदं "च" पुस्तकेऽधिकम् ।

जीवोस्त्यविद्याधिसितः सिता सा देहेऽथ पृथिवीसितः सा ।
सूर्य्येण सूर्यो वरुणेन सोऽपीश्वरेण तस्मात् षडिदं प्रतिष्ठा ॥
जीवोऽप्ययं धारयते तनूं स्वां क्वचित्तु स स्रोतसि चोच्चपाते ।
भयातिशय्ये च तनूधृतोऽपि वलान्तो न धर्तुं क्षमतेऽन्यकृष्टाम् ॥

यस्त्वेष आत्मा परमेश्वरोऽन्यः फलेऽस्य कर्म्माण्यपि नास्ति कामः ।
हृद्येव कामाः प्रचरन्ति नास्मिन्नाभिस्ततो नो हृदयं न कामः ॥
इमानि कर्म्माणि विभान्ति लोके यावन्ति जीवेषु तथेश्वरेषु ।
सर्वाणि विद्यात् परमेश्वरेऽस्मिन् प्रातिस्विकं कर्म न तत्र किञ्चित्॥
प्राणा मनांस्यत्र वसन्ति वाचश्चोद्‌बुद्धरूपाणि तु तानि कार्त्स्न्यात् ।
जीवेश्वरेष्वेव हि तानि मन्येऽनुद्‌बोधितानां निधिरस्त्यकामः ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणां नभ्यात्मविवेकः ।

जीवा अनन्ता इह देहभेदात् द्विधाऽयमात्मा प्रतिदेहमिष्टः ।
यो देहकृन्नाभिगतः स एकः स देह आत्मायमिहान्य उक्तः ॥
तथेश्वरा अत्र भवन्त्यनन्ता ब्रह्माण्डभेदादथ सोऽण्डकर्ता ।
साण्डः समग्रश्च स इत्थमात्मा प्रत्यण्डमस्ति द्विविधः प्रतीतः ॥
अथैकमात्रः परमेश्वरोऽयं तस्यैकमेवास्ति यतो जगत्तत् ।
जगद्ध्यसीमं न च तस्य नाभिस्तस्मादिहात्मा द्विविधो न सिद्धः ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणां शरीरे दैशिकसंस्थाविवेकः ।

जीवस्य शक्तिः प्रमिताऽस्ति तस्मान्मितं शरीरं लभते स जीवः ।
तद्वन्मिताऽस्तीश्वरशक्तिरस्मात् ब्रह्माण्डमेतन्मितमेष धत्ते ॥
य ईश्वरस्तस्य परोऽर्क आत्मा ब्रह्माण्डमेतस्य शरीरमाहुः ।
भानुप्रभामण्डलमस्य भानोः संवत्सरं प्राहुरिदं सदण्डम् ॥
यस्त्वादिरात्मा परमेश्वरोऽसौ यदस्ति किञ्चित्तदशेषमेषः ।
ततः परं शून्यमसंभवं यत् तस्मादसीमोऽस्त्यशरीर एषः ॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणां कालिकसंस्थाविवेकः ।

जीवात्मशक्तिः परतन्त्रलभ्या नैमित्तिकस्तेन स नास्ति नित्यः ।
या चैश्वरी शक्तिरियं च लभ्या परेश्वरात्तेन हि सोऽप्यनित्यः ॥
परेश्वरः शक्तिघनः स्वतन्त्रो न तत्र शक्तिः परतोऽस्ति लभ्या ।
अनन्तब्रह्माण्डकला अमुष्मिन् भवन्ति नश्यन्ति पुनर्भवन्ति ॥
अनादिकालाज्जगदेवमेव प्रवर्तते शश्वदनन्तकालम् ।
यथाद्य पश्यामि तथैव तत् प्राक् समभाव्यते चोत्तरतोऽपि तद्वत् ॥

योवाङ्मनःप्राणमयो मनोमयो विभाति विष्वक् परमेश्वरः स्थितः।
तस्मिन् हि नानाविधरूपभाविता भावा अनेके प्रचरन्ति सर्वतः॥
अवान्तरानेकविकारभेदिता भवन्तु भावास्त इमे पृथग्विधाः ।
तथापि ते सन्त्यविशेषतः पृथक् सर्वेऽपि वा क्प्राणमनोभिरन्विताः॥

जीवेश्वरपरमेश्वराणां जगत्कर्तृत्वविवेकः ।

विश्वस्य योऽयं प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं कारणमीश्वरः सः ।
सर्वज्ञ उक्तः स च सर्वशक्तिः स सर्वविज्ञानबलार्थयोगात् ॥
यस्त्वेष आत्मा परमेश्वरोऽन्यो निधिः स सर्वस्य तथाप्यनिच्छः ।
न कारणं नैष करोति किञ्चित् पृथक्तया जीवत ईश्वराद्वा ॥
"न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥"
(उपनिषद्)

यानीश्वरा यानि च जीवसंघाः कर्म्माणि कुर्व्वन्त इह ध्रियन्ते ।
अशेषतस्तान्यविनाभवत्वान्मन्यामहेऽस्मिन् परमेश्वरेऽलम् ॥
न चेश्वरैर्नापि कदापि जीवैरयं विहीनः परमेश्वरः स्यात् ।
कश्चित्क्वचिज्जीववदीश्वरोऽस्मादुत्सीदति स्यात् प्रलयः स कालः॥
य एष आत्माऽहमिहास्मि जीवस्तमीश्वरं विद्धि तदंशजातम् ।
स ईश्वरोऽभूत् परमेश्वरांशात् तस्मात् स जीवोऽस्ति स ईश्वरोऽस्ति॥

परमेश्वरस्य सार्वात्म्यम् ।

य एष आद्यः परमेश्वरोऽसौ स्वयं स आत्माऽस्ति परोऽस्य नात्मा।
भूतैर्न पृङ्क्ते स न सूत्रबद्धः क्षेत्रज्ञ आत्मा च महांश्च नास्मिन्॥
यावन्त आत्मान इमेऽथवा ते सर्वे प्रथन्ते परमेश्वरेऽस्मिन् ।
ततो बहिः किञ्चन नास्ति तस्मात् सर्वात्मकोऽयं परमेश्वरः स्यात्॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् कृष्णश्च शुक्लश्च सदेष चासत्।
सर्वे विरुद्धा अविरुद्धभावं गच्छन्ति मन्ये परमेश्वरेऽस्मिन् ॥
रूपं तु वाक्प्राणमनोमयं स्याद् वेदप्रजायज्ञमयं शरीरम् ।
जीवेश्वराः सर्व इमेऽस्य वित्तं व्यूहो द्वितीयः परमेश्वरः सः ॥
न चात्र नभ्यो न च तत्र संस्था नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अशेषजीवेष्वखिलेश्वरेषु व्याप्नोति साम्यात् परमेश्वरः सः ॥

भवन्ति यावन्ति तु कानिचित् क्वचित् सर्वात्म्यमैकात्म्यममुत्र लक्ष्यते ।
आनन्त्यमस्तीति यथायथं न तद्विज्ञायते तं परमेश्वरं विदुः ॥

भूमारस आनन्दः स परमेश्वरः ।

ततः परं नास्ति किमप्यसीमं सर्वं परिव्याप्तमनेन तस्मात् ।
दिग्देशकालाप्रमितं रसं तं भूमानमाहुः स रसः सुखाय ॥
सोऽधः स ऊर्ध्वं स पुरश्च पश्चात् स उत्तराद्दक्षिणतः समन्तात् ।
सर्वं तदेकामृतमद्वितीयं दिक्कालदेहैर्न विमीयते तत् ॥
नामानि सर्वाणि यदस्ति किञ्चिन्नामैव भूमेति वदामि तावत् ।
नाम्नः क्रमाद् वाक् च मनश्च तद्वत् संकल्पकं चित्तमिदं च भूयः ॥
तद्ध्यानविज्ञानबलान्नमापस्तेजो वियन्ति स्मरणं तथाशा ।
प्राणोऽथ भूमा स हि सर्वमेतत् क्रमाद्बहुत्वं यदिदं स भूमा ॥
सत्यं विजिज्ञास्यमिदं न चर्ते विज्ञानतस्तन्न मतेर्ऋते स्यात् ।
सा श्रद्धया साऽपि च निष्ठया सा कृत्या कृतिस्तत्र सुखेन सर्वा ।
सुखं त्वलब्ध्वा न करोति कश्चित् यस्मिन् सुखं पश्यति तत्करोति ।
सुखं विजिज्ञास्यमिदं हि भूमा नाल्पे सुखं भूम्नि सुखं प्रतीमः ॥
यत्रान्यदन्यच्छृणुयाच्च पश्येन्मितं तदल्पं तदिहार्तमस्ति ।
न श्रव्यमन्यन्न च दृश्यमन्यन् भूमा सुखं तन्न सुखेऽन्यबोधः ॥

परमेश्वरस्योपासना ।

न त्वेव जीवाः परमेश्वरस्याप्याराधने संप्रति शक्नुवन्ति ।
आराधितेन ध्रुवमीश्वरेण स्वाराधितोऽयं परमेश्वरः स्यात् ॥
यदैहिकामुष्मिककाम्यकर्म्म प्रकुर्वते तद्ध्रुवमीश्वराय ।
जीवाय वा स्यान्न तु तत्कदाचिद् व्यासज्ज्यतेऽस्मिन् परमेश्वरेऽपि ॥
सन्यासिनो वा यद् काम्यकर्म्म प्रकुर्वते तेन भवेद्विमोक्षः ।
ते जीवतामीश्वरतामपीमामतीत्य लीनाः परमेश्वरे स्युः ॥
यावन्ति वाक्प्राणमनांसि जीवे तथेश्वरे यानि ततो बहिर्वा ।
जीवाश्च यावन्त इहेश्वरा वा सर्वोऽयमेकः परमेश्वरोऽस्ति ॥

इति ब्रह्मचतुष्पद्यां विराट्परिच्छेदापरपर्याये व्यूहानुव्यूहपरिच्छेदे
परमेश्वरानुगमतन्त्रं नाम प्रथमदर्शनं पूर्णम् ॥१॥

विराट्परिच्छेदे

—○:❀:○—

अथेश्वरदर्शनम् ।

ईश्वरसंप्रतिष्ठा ।

त्रैलोक्यपृष्ठे प्रतिभाति किञ्चित् सत्ताचिदानन्दमयं हि रूपम् ।
कूटस्थमस्तित्वचलं ध्रुवं तत् त्रैलोक्यमेतस्य महिम्नि विष्टम् ॥
तृतीयताण्ड्योपनिषत्प्रपाठे त्रयोदशे खण्ड इदं निरुक्तम् ।
नारायणीयोपनिषच्च तद्वत् तद्रूपमुच्छ्रावयते तथा हि ॥
"अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः ॥
यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वं यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तदुभव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ॥
तेनावृतं खं च दिवं महीं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च ।
यमन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः ॥
यतः प्रसूता जगतः प्रसूतीतो येन जीवान् व्यवसर्ज भूम्याम् ।
यदोषधीभिः पुरुषान् पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि ॥
अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परं यन्महतो महान्तम् ।
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ॥
तदेव वर्तं तदसत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।
इष्टापूर्त्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः ॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति ॥"

(नारायणोपनिषत्)

(आत्मरूपशरीरवित्तैश्चतुःसंस्थः ईश्वरः)

रजांसि लोकाः स यतो रजोभ्यः त्रिभ्यः परस्तात् प्रतिभाति तस्मात् ।
परोरजा इत्यभिधीयतेऽयं वह्न्यखिलोक्यस्तमनु भ्रमन्ति ॥

अस्त्यत्र नभ्योऽनुनिशं क्रमन्ते यतस्तु वाक्प्राणमनांसि रूपम् ।
वेदप्रजायज्ञमयं शरीरं वित्तानि सूर्य्येन्दुमहीमुखानि ॥

सत्यज्ञानरूपम् ।

न प्राणतस्तद् व्यतिरिच्य रूपं धत्ते सदा प्राणमयश्चिदात्मा ।
चिताःचितेरेव विशेषतोऽस्मिन् स्वतःप्रभान्यप्रभनिष्प्रभत्वम् ॥
बलप्रधर्षातिशयात् प्रभा स्यात् स्वतः प्रभे तु स्वत एव साद्या ।
परः प्रभाग्राहिणि गृह्यते या प्रभा बहिः सानुगता द्वितीया ॥
स्वतःप्रभातोऽथ परप्रभातो गृह्णाति रूपं यदि दृश्यतेऽदृणा ।
न दृश्यते चेत् तदिदं चतुर्थं तज्ज्ञानतः केवलमस्ति गृह्यम् ॥
अदृश्यरूपं त्वमृतं वदामो दृश्यं त्रयन्तु प्रवदन्ति मर्त्यम् ।
यत्रामृते मृत्युसमन्वयः स्यात् तन्मर्त्यमाहुर्द्वयमत्र युक्तम् ॥
सर्वं बहिर्धातुनिसर्गतो यद् घनत्वमायाति ततोऽस्ति मर्त्यम् ।
अर्द्धं यदस्मिन्नविकारिरूपं तदन्तरा भात्यमृतं तदाहुः ॥
प्राणो हि सूर्य्यस्य रसोऽग्निनामा स सोमनामेन्दुरसो द्वितीयः ।
आपोभिधो भूमिरसस्तृतीयश्चिताप्रयुक्ताः प्रचरन्ति सर्वे ॥
यः स्वप्रकाशः स हि सूर्य्य उक्तः परप्रकाशं तु वदन्ति सोमम् ।
रूपप्रकाशा अखिलाः स्युरापो नाग्निर्न सोमेन विनास्ति सूर्यः ॥
रूपं यदेषाममृतं स एष प्राणो मनो मर्त्यमिदं तु भिन्नम ।
वाक् सा तदन्नं तदिदं समस्तं नातः परं ब्रह्म विकल्पयामः ॥
सूर्यश्च चन्द्रश्च तथाप एताः प्राणास्त्रिधाऽत्र प्रथमद्वये तु ।
आत्मा परः प्राप्य बिभर्ति रूपं विज्ञानमानन्दमयं प्रकाशि ॥

सत्यान्तर्यामिरूपम् ।

आपोमयं प्राणमुपेत्य सोऽयं तद्रूपमायाति तदस्ति सत्यम् ।
आपोमयं विश्वमिदं प्रतीमः सत्यं तदा बिभ्रति ता इहापः ॥
प्रत्यर्थभेदेऽपि तदेकमेवान्तर्यामि सत्यं नियमानुसारात् ।
सृष्ट्वा विशत्येषु विभिन्नरूपास्ताः शक्रयश्चेष्टितमेषु ताभिः ॥
स गोतमोऽयं मघवन्तमाहान्तर्यामिणं तं परमं प्रतीयात् ।
तदन्तरे तिष्ठति विश्वमेतत् सर्वस्य वैषोऽन्तरतः प्रविष्टः ॥

"अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व (यजु०७।५) ॥"
पृथ्वीयमग्निः स्तनयित्नुरापो विद्युद्दिशो व्योम च वायुरेषः ।
आदित्य इन्दुग्रहतारका वा भूतानि लोकाः सह वेदयज्ञाः ॥
वाक्प्राणचक्षुःश्रुतयो मनस्त्वगरेतस्तमस्तेज उतायमात्मा ।
त एव किञ्चित् क्वचिदस्ति तस्याखिलस्य सोऽन्तः प्रतितिष्ठतीह ॥
तेभ्योऽन्तरस्तेन विदुस्तमत्रान्तस्थं त एतस्य भवन्ति देहाः ।
तानान्तरो यो यमयत्युतान्तर्य्यामी स आत्माऽमृत उच्यतेऽसौ ॥
स एष सत्यः प्रतिवस्तुधर्म्मः शक्तिश्च सैषा नियतिः प्रसिद्धा ।
नोल्लङ्घ्य शक्तिं नियतिं च किञ्चित् करोति वा जीवति वा कथंचित् ॥
सत्येन सा द्यौः पृथिवी च नित्यं स्तब्धे ज्वलत्यग्निरथैष सूर्य्यः ।
प्रतप्यतेऽयं पवते च वायुः प्रतिष्ठितं सर्वमिदं हि सत्ये ॥

प्राणानामृषिपितृदेवासुरगन्धर्वाणां सृष्टिक्रमः ।

परोरजाः प्राणमनोवचोमयो ज्ञानं मनो वागिह सत्यमुच्यते ।
प्राणास्तु तस्मिन्नृषयो मताः स्वतो विलक्षणानेकविधा भवन्ति ते ॥
भृग्वङ्गिरोऽत्रीति वसिष्ठमत्स्यागस्त्याः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्च ।
मरीचिरेवं समकप्रचेतोगणौ तथा नारदपर्वतौ च ॥
अयास्यघोरौ शुनकः प्रगाथोऽथर्वा भरद्वाजकवामदेवौ ।
यो गोतमो यौ जमदग्निविश्वामित्रौ तथा कश्यपशंयुकण्ठाः ॥
यः कौशिको गृत्समदस्त एवं नानर्षयः सन्ति परोरजोंऽशौ ।
तेषां मिथो योगवशादनेके सोमांशुभक्ताः पितरो भवन्ति ॥
ते च त्रिधा सोमरसदस्तथाग्निष्वात्तास्तथा बर्हिषदोऽप्यमूर्त्ताः ।
त्रयोऽप्यमी सन्त्यृतवस्त एते सृजन्ति भूतान्यखिलानि धर्म्मैः ॥
मूर्त्ताश्चतुर्धा पितरः सुकाला हविर्भुजश्चाज्यपसोमपाश्च ।
ऋषिभ्य एते पितरः प्रजाता ज्योत्स्ना तु चान्द्री निलयः पितृणाम् ॥
देवाः सुराः स्युः पितृभिः प्रजाता नानापितृप्राणसमन्वयेन ।
अग्निश्च सोमश्च यमस्तथोषा आपश्च पञ्चैव तु देवभेदाः ॥
अग्न्यादयः स्युर्वसवोऽग्निभेदा वाय्वादयो रुद्रभिदा भवन्ति ।
आदित्यभेदा वरुणादयः स्युस्त्रिधाऽप्यमी अग्नय एव सिद्धाः ॥

देवाः समस्ता रविरश्मिभक्ता दीव्यन्ति दिव्यत्र दिवैव देवाः ।
स्वतःप्रकाशेऽप्यपरत्र तेषामुपस्थितिः स्यात् सहजा समीची ॥
परप्रकाशे क्षितिचन्द्रमुख्ये प्रकाशभागे पितरश्च देवाः ।
अथाप्रकाशे तु तमोनिकाय्याः सर्वे बलिष्ठा असुराः स्थिताः स्युः ॥
बलश्च जम्भो नमुचिश्च वृत्रोऽन्ये शम्बराद्या असुरा अनेके ।
मिथोविरुद्धैरसुरैश्च देवैः समन्वितैः स्यात्तु चरिष्णुसृष्टिः ॥
गन्धर्वनामान उपग्रहा ये चरन्ति चन्द्रं परितोऽल्पदेहाः ।
प्राणास्तदीयांशुगताः प्रसिद्धा गन्धर्वनाम्नैव पुरुप्रकाराः ॥
ते चर्षयस्ते पितरश्च देवाः सुराश्च गन्धर्वगणाश्च सर्वे ।
प्राणाः पृथक्स्था अपि नूनमस्मात् परात्मनोऽव्यादभवन्क्रमेण ॥

ब्रह्माश्वत्थवरशापश्चस्कन्धाः ।

नाभ्युत्थवाक्प्राणमनःस्वरूपो वेदप्रजायज्ञशरीरसंस्थः ।
अनेकशाखैर्बहुभिश्च वित्तैर्भातीश्वरस्ते च परःसहस्राः ॥
स्कन्धैः पुनः पञ्चभिरेकशाखा पर्याप्यते तद्वदपीतराः स्युः ।
शाखां तु यां ताविदुपाश्रिताः स्मो विशिष्य तामेव निदर्शयामः ॥
त्रैलोक्यपृष्ठे तु परो दिवो यज्ज्योतिः परं ज्ञानमयं विभाति ।
उद्गम्य शाखास्तत एव सर्वाः प्रतानवत् सर्वदिशः प्लवन्ते ॥
स्कन्धोऽस्ति तेषां प्रथतः स्वयम्भूः स्कन्धो द्वितीयः परमेष्ठिसंज्ञः ।
सूर्य्यस्तृतीयः पृथिवी चतुर्थी चन्द्रोऽन्ततः पञ्चम इत्यवेयात् ॥
योऽयं स्वयम्भूः प्रतिपत्प्रतिष्ठा भ्रमन्ति तस्यानुचराः समन्तात् ।
तेष्वेक इष्टः परमेष्ठिसंज्ञः सूर्य्योऽयमस्यानुचरेषु चकः ॥
स्कन्धस्तृतीयः प्रतिभाति सूर्यो य एष वाक्प्राणमनोमयात्मा ।
तं सूर्य्यमाश्रित्य पुनः समन्ताद् भ्रमन्ति नानाऽनुचरा ग्रहाख्याः ॥
ग्रहेषु तेषु त्वियमस्ति पृथ्वी स्कन्धश्चतुर्थोऽनुचरः स भानोः ।
पृथ्व्यास्तथैवाऽनुचरोऽयमेकः स पञ्चमस्कन्ध इहास्ति चन्द्रः ॥
चन्द्राश्रिताः सप्त च विंशतिश्च भ्रमन्ति गन्धर्वपदप्रसिद्धाः ।
अत्यल्पबिम्बास्त इमे समन्तादिन्दोर्भ्रमन्तोऽपि विभान्ति नेद्धाः ॥
यथैव सूर्यं परितः सहस्रशो महाशरीरा विचरन्ति केतवः ।
तथैव चन्द्रं परितोऽल्पविग्रहा गन्धर्वमाला विचरन्ति भूरिशः ॥

कश्चित् क्वचित्तेषु गतायुरन्यतः संघर्षणात् संभवति च्युतः पथः ।
पतत्ययं भूमितलेऽन्यतोऽपि वा धिष्ण्योल्कयोः संपतनं तदुच्यते॥
सूर्यश्च पृथ्वी च तयोर्यदन्तर्वियत्त्रिलोकीयमिह प्रसिद्धा ।
चन्द्रः स गन्धर्व इह त्रिलोक्यामन्तर्बहिस्त्वेष परोरजाः स्यात् ॥
गन्धर्वपूगैर्विटपी तु चन्द्रोऽथ चन्द्रपूगैर्विटपिन्यभूद् भूः ।
भुवां च पूगैर्विटपी रविः स्यात् पूगै रवीणां परमेष्ठ्यसौ स्यात् ॥
गन्धर्वभेदा इह सप्तविंशतिस्तेषां विभिन्ना महिमान आसते ।
सर्वानमीषां तु महिम्न इत्यभिव्याप्नोति चान्द्रो महिमा बृहत्तया॥
एकोऽथवा क्वापि भवन्त्यनेके चन्द्रा अमीषामखिलान् महिम्नः ।
तिष्ठत्यभिव्याप्य बृहत्तयाऽयं वागात्मकोऽस्या महिमा पृथिव्याः ॥
पृथ्व्योऽपि यावत्य इमाः प्रथन्ते भास्वन्तमाश्रित्य सामन्ततस्तम् ।
तासामभिव्याप्य महिम्न एतान् बृहत्तया भाति रविर्महान् सः ॥
सूर्यास्तथैव प्रचरन्त्यनेके तेषामभिव्याप्य महिम्न इत्थम् ।
विभाति चैकः परमेष्ठ्यथैषामेकः स्वयम्भूर्व्यभवन्महिम्नः ॥
स च स्वयम्भूर्भगवान् परात्मास्त्यस्थेश्वरस्तानखिलान्महिम्नः ।
विभुर्दधानः परमेष्ठिपूर्वानात्मोदरे भाति जगन्नियन्ता ॥
देवाश्च भूतानि च सोम आपश्चैतानि चत्वारि च तानि मन्थे ।
बलं प्रसर्गाय यथा तथेदं ज्ञानं प्रकाशाय ततोऽस्ति भाति ॥
पृथक् पृथक् सर्व इमे स्वतन्त्राः परत्र तेषां परतन्त्रतापि ।
चन्द्रः पृथिव्यां पृथिवी तु सूर्ये सूर्यः परात्मन्युपयाति वश्यः ॥
सत्यज्ञानप्राणान् वेदान् विभवति दधत् स्वयंभूस्तैः ।
वाग्वाकोशौ यजुरिदमृषयः प्राणास्तु वायवस्तत्र ॥
नभ्यश्च मूर्तिर्महिमा च वित्तं परात्मनो यद्वदुपाहितानि ।
सूर्यस्य चन्द्रस्य भुवश्च तद्वत् प्रत्येकतस्तानि पृथक् २ स्युः ॥
व्यूहात्मकैस्तैश्च परात्मुख्यैर्व्यूहः कृतः पञ्चभिरेष योऽन्यः ।
स ईश्वरस्तत्र वसन्त्यसंख्या व्यूहा अमी सूर्यमहीन्दुसंज्ञाः ॥
ज्ञानक्रियार्थैरयमन्वितत्वात् सर्वज्ञ आत्मा स हि सर्वशक्तिः ।
स विश्वमूर्तिश्च विशिष्टरूपः प्राणेन वाचा मनसा च नित्यम् ॥
यदीश्वरेऽस्मिन् परमेश्वरत्वं ब्रूयुः स्तुवन्तो न तदस्ति मिथ्या ।
एको य आत्मा परमेश्वरोऽयं स एव जीवाः सममीश्वराः वा ॥

ईश्वरशरीरं वसुधानकोशः ।

जीवं प्रवक्ष्यामि तु पञ्चकोशं पञ्चात्मनस्तत्र वदन्ति विज्ञाः ।
तथैव संभाव्यत ईश्वरोऽपि स्यात्पञ्चकोशः पृथगात्मभिः स्वैः ॥
स्यादन्तरिक्षं जठरं दिशोऽस्य स्युः स्रक्तयो भूमिरमुष्य बुध्नः ।
स्यादुत्तरं तस्य तिलं तथा द्यौर्विश्वाश्रयोऽसौ वसुधानकोशः ॥
यदस्ति किञ्चित्त्विह देहकोशे तदस्ति सर्वं वसुधानकोशे ।
रूपं तथामुष्य हि पञ्च देवाः प्राणास्तथा पञ्च वपुःस्वरूपम् ॥
प्राणाय एवेह तु देहकोशे त एव देवा वसुधानकोशे ।
चरन्ति तेषां च परस्परेण प्रवृत्तिमाचक्षत ऐतरेयाः ॥

इति वसुधानकोशः ।

१–चिदात्मा परात्मा ईश्वरस्यात्मा ।

चन्द्रश्च पृथ्वी च रविः परात्मा यान्यत्र भूतान्यथ येऽत्र देवाः ।
आत्मान एतेऽभिमताः समस्ता अस्येश्वरस्येति परं प्रतीयात् ॥
लोकत्रयातीतमनुत्तमं यज्ज्योतिर्न चाप्राप्य तदीश्वरं तम् ।
जीवे गतं स्यात् तदिदं विभुत्वात् सर्वत्र साधारणमेव मन्ये ॥
मनुष्यवन्नेश्वरबुद्धिरल्पा मेया मनो नो परिवर्तनीयम् ।
एकान्ततश्चित्परिपूर्णगात्रः स पूर्णचैतन्यमयः सदास्ति ॥

इति चिदात्मा परमात्मा परोरजाः ।

२–सर्वदेवात्मा क्षेत्रज्ञ ईश्वरस्यात्मा ।

स ईश्वरो भास्करचन्द्रमन्दगुर्वादिभिः संभवतीन्द्रियाढ्यः ।
संभाव्यते ज्ञानमिद विशिष्टे मनुष्यवन्नान्तरतस्तदङ्गे ॥
लोकत्रयं क्षेत्रमिति प्रतीमो लोकत्रये त्वत्र यदस्ति किञ्चित् ।
जानाति कृत्स्नं तदतः स सूर्यः क्षेत्रज्ञ आत्मोच्यत ईश्वरस्य ॥
सर्वेऽपि देवा इह सन्निविष्टा यो मध्यमः प्राण इहेन्द्रशब्दः ।
तमिन्द्रमेवानुगता तु देवा अस्येश्वरस्येन्द्रियतां भजन्ते ॥

इति प्राणात्मा देवात्मा क्षेत्रज्ञः ।

३–महान् ईश्वरस्यात्मा ।

आत्मा महानस्ति स ईश्वरस्य सा तस्य चित्तप्रकृतिर्य इन्दुः ।
क्षेत्रज्ञ आत्मास्ति यथास्य बुद्धिस्तथा महानस्ति मनस्तु तस्य ॥
जीवस्य नानाकृतयोऽपि नूनं सौम्याः क्रियन्ते महतैव तेन ।
अथेश्वरस्याकृतिरस्ति या सा निसर्गतो माण्डलिकीति मन्ये ॥
यदेकसूर्याल्परसेन तद्वत् यदेकचन्द्राल्परसेन जीवे ।
सूत्राहिते नोदयतेऽयमात्मा कनीयसी तेन तदात्ममात्रा ॥
नानेह पूर्णाकृतयस्तु सूर्याश्चन्द्राश्च सन्तीश्वर इत्यतस्तम् ।
बहूनि पूर्णानि मनांसि बह्व्यः पूर्णा धियश्चे श्वरमाश्रयन्ते ॥

इति महानात्मा षोडशी ।

४–भूतात्मा कर्मात्मा ईश्वरस्यात्मा ।

पृथ्व्यां यतः सन्ति रसास्त्रिलोक्या भूतस्यभावादिव बद्धमूलाः ।
त्रिधा कृतस्तेन स भौतिकात्मा जीवे यथा तद्वदिहेश्वरेऽपि ॥
जीवे त्रिकः काप्यथवा द्विकोऽयं क चैककः स्यादपि भौतिकाऽऽत्मा ।
अथेश्वरे तु त्रिक एव नित्यं पर्याप्तमात्रस्य सदोपपत्तेः ॥
वैश्वानरो वा स हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ आत्मेश्वर उच्यतेऽयम् ।
अग्निश्च वायुश्च रविश्चिदाढ्यः पर्याप्य तिष्ठन्ति हि देहमेशम् ॥
अग्नेश्च वायोश्च रवेश्च भेदेऽप्येगमनूनानतिरिक्तवृत्तेः ।
स इश्वरोऽस्त्येक इव प्रतीतो वैश्वानरश्चैव हिरण्यगर्भः ॥
कैकेयराजोऽश्वपतिर्महर्षीनुवाच वैश्वानरवैश्वरूप्यम् ।
१ २ ३ ४
वत्सप्रिमूर्धन्वदृषी वशिष्ठस्तथा भरद्वाजऋषिस्तमूचुः ॥
प्रजापतेः कोऽपि हिरण्यगर्भः पुत्रः स्तुवीते स हिरण्यगर्भम् ।
वाग्वात्मना त्वीश्वर एव तत्तत्सर्वं विधत्ते यदि हैव आह ॥
तं वाङ्मनःप्राणमनोमयत्वात् प्रजापतिं प्राह हिरण्यगर्भः ।
स ईश्वरः सर्वमिदं विधत्ते तत्तत् त्रिलोकीषु यदस्ति किञ्चित् ॥

इति भूतात्मा कर्मात्मा ।

४–सूत्रात्मा वाय्वात्मा ईश्वरस्यात्मा ।

यस्त्वन्तरिक्षे नियमेन तिष्ठन् दिवं भुवं साकमुपैतुमीष्टे ।
स वायुरेतं त्रिविधं वदामो यमं शिवं सूत्रमितिप्रभेदात् ॥
त्रिधा त्रिलोकी प्रथमा तु रोदसी तत्रान्तरिक्षे यम एष उच्यते ।
सूर्योर्ध्वतोऽर्वाक् परमेष्ठिनस्तु या सा क्रन्दसी तत्र शिवःप्रवर्तते ॥
स्वयंभुवोऽर्वाक् परमेष्ठिनः पराक् सा संयती सूत्रमिदं तदन्तरे ।
यमोऽवसानं कुरुते शिवः शिवं सूत्रं मिथोबन्धनमित्यवेयताम् ॥
सूर्यस्य चन्द्रस्य भुवश्च योगः परात्मना चास्ति परस्परं च ।
योगस्त्रिलोक्याश्च यतस्तदेषामेकात्म्यमाभाति तदस्ति सूत्रम् ॥
वायुर्हि तत्सूत्रमतेन लोका भूतानि चैतानि परस्परेण ।
स्तब्धानि दृब्धानि न विच्यवन्ते तदेतदाकर्षणमस्ति सूत्रम् ॥
अप्स्वेव पश्यामि तु सर्वमोतप्रोतं न वायाविह ताः स वायुः ।
अस्त्यन्तरिक्षे तदिहान्तरिक्षं गन्धर्वलोके स तथाऽऽदितेये ॥
स चन्द्रलोके स तथोडुलोके स देवलोके स तथेन्द्रलोके ।
प्रजापतेर्लोक उतैष एष स्यात् ब्रह्मलोके चितिसूत्रकृत्यम् ॥
दिवो यदूर्ध्वं यदवाक् पृथिव्या यच्च त्रिलोक्यामिह भूतभव्यम् ।
सर्वं तदाकाश उतायमोतप्रोतोऽक्षरेऽस्मिन् परमेश्वरेऽस्ति ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा च महान् परात्मा भूतात्मनां च त्रयमत्र सूत्रम् ।
पञ्चात्मनो जीववदीश्वरेऽपि प्राहुः प्रभूतास्त्विह ते ध्रियन्ते ॥

इति सूत्रात्मा ।

ईश्वरस्योपासना ।

शब्दस्तु यः स्यात् समुदायदृष्टस्तस्यां गतोऽपि व्यपदेश इष्टः ।
पुच्छं स्पृशन्नाह हि गां स्पृशामि शालांशमेष्यन् मिथिलां व्रजामि ॥
यावन्त आत्मान इमेऽथ देवा यावन्त एते सबलाः पृथग्वत् ।
आराधिता ईश्वरवद् यदङ्गे पर्य्याप्यते तत्समुदायवृत्ति ॥
मन्ये ततो दीर्घतमा महर्षिस्तमेवमेवेश्वरमेभिरङ्गैः ।
देवे पृथक् संप्रतिपद्य भूयस्तमेकमेवाभ्युपपत्तुमाह ॥

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापति" ॥
(यजु० सं० ३२।१)
ज्ञानानि यावन्ति बलानि यावन्त्यर्थाश्च यावन्त इवाद्य यावत् ।
सृष्टानि सन्ति क च तानि सर्वाण्यत्रोपपद्यन्त इति प्रतीमः ॥
विश्वाश्रयस्तेन स सर्वशक्तिः सर्वज्ञ उक्तो नततः पृथक् स्मः ।
स एव संप्रार्थ्यत एष एव प्रसादयेन्नः कलया प्रसन्नः ॥
निरिन्द्रियोऽप्येष सचेतनत्वात् सर्वेन्द्रियः स्यात् स हि सर्वशक्तिः।
सर्वज्ञमेतं परमार्थसिद्ध्यै चाराधयन्ते बहुभिः स्वभावैः ॥
या गण्डकीतीरभवास्ति शालग्रामी शिला सा प्रतिमूर्तिरिष्टा ।
अस्येश्वरस्येत्यभिलक्ष्य बुद्धिं यस्तत्र युञ्जीत स सिद्धिमेयात् ॥
वैश्वानरं विष्णुरिति प्रपद्यब्रह्मेति चाख्याय हिरण्यगर्भम् ।
सर्वज्ञमुक्त्वा शिव इत्युपास्ते त्रिधापि चाराध्यत एक आत्मा ॥
उपास्य आत्मा त्रिविभाग ईश्वरात्त्रिमूर्तिमेकं भजते स साधुकृत् ।
भागात्मकांस्त्रीन् यदुपासते पृथक् प्रतीकतः साऽपि भवेदुपासना ॥
तत्रापि योऽध्यात्ममिहेश्वरो वा महेश्वरो वा मयि सन्निधत्ते ।
तन्मात्रमाराधयते स्वसिद्ध्यै जीवोऽनवच्छिन्नगतस्ततः स्यात् ॥
सर्वोऽयमीशो न च तस्य कृत्स्नशोऽप्यङ्गानि जीवा हृदि कर्तुमीशते।
प्रतीकमेकं प्रतिपद्य तद्दिशा सर्वात्मसाक्षात्कृतिरस्त्युपासना ॥
शिरोऽनुपश्यंस्तदुरोऽनुपश्यन् पदन्नु पश्यन्नरमेव पश्येत् ।
अन्तर्बहिः पारयते तु कार्त्स्न्यात् कः सर्वमङ्गं युगपद् ग्रहीतुम् ॥
केनापि मार्गेण स एष जीवः प्रवेष्टुमीष्टे परमेश्वरेस्मिन् ।
वैश्वानरेणापि हिरण्यगर्भेणाप्युत्तमेनापि ततोऽन्यतो वा ॥

उपासनास्वरूपनिर्वचनम् ।

इत्थं तदंशग्रहणेन कार्त्स्न्यतस्तदंशबुद्धिं बहुधाऽत्र दृश्यते ।
कयापि भक्त्या निखिलस्य भागिनो ग्रहाय वृत्तिस्थिरतास्त्युपासना ॥
आराध्यभक्तौ कृतमात्मभावं ह्युपासना नाम वदन्ति केचिद् ।
तद्भक्तिलीनस्तदुपाश्रितः सन् सायुज्यमाप्नोत्यखिलात्मनैव ॥

उपाहितः सैन्धवखिल्य एष क्वचित्प्रदेशेऽपि महासमुद्रे ।
तत्रैव लीनः ससमुद्रलीनः संभाव्यते तद्विदिहापि विद्यात् ॥
यद्गन्धपुष्पादिसमर्पणात्मकः पूजाप्रकारः पुरुधा नियम्यते ।
वृत्तिं स्थिरत्वाय तदस्थिरात्मनां सेव्याश्रितं कर्म्म चिराय तन्वते ॥
यान्यत्र हृद्यानि भवन्ति तत्र नः कृष्टोऽयमात्मा भवति स्वभावतः ।
विशेषतः स्वेषु तदर्पणाद् ध्रुवं जीवः स्वमात्मानमिवेश्वरेऽर्पति ॥
प्रवृत्तिमार्गस्य निवृत्तिमार्गय आयिमा सोरिह मध्यमार्गः ।
निवृत्तये तत्र मता प्रवृत्तिः सोपासनामार्ग इति स्म केचित् ॥

ओंकारस्येश्वरवचनस्य निरुक्तिः ।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥"
(उपनिषद्)

❀

जीवोऽहमुक्तोहरितीश्वरोऽसावोमित्यनूक्तः परमेश्वरोऽयम् ।
एतानि नामानि भवन्त्यमीषामोमेव जीवेश्वरयोः प्रतिष्ठा ॥
अकार आत्माग जगद्धकारो यदात्मनः स्थौल्यवशेन सिद्धम् ।
संसर्जनार्थोऽमिति जीवनार्थोऽनितीह संज्ञाकरणोऽस्ति शब्दः ॥
एति स्वतन्त्रो हिति न स्वतन्त्रोऽस्त्यात्मा स्वतन्त्रो न जगत्स्वतन्त्रम् ।
स्पृष्टो हकारो विवृतस्त्वकारोऽस्त्यात्माह्यसङ्गो जगदस्ति सक्तम् ॥
सृष्ट्वा जगत् तस्य भवेत् प्रतिष्ठा त्रिधाऽयमात्मेतिनिरूपणाय ।
नामत्रयेऽप्यस्ति समानभावादकारमाश्रित्य वदन् हकारः ॥

* "अहम्-अहः-ओम्" ॥ अ-ह-अम् = अहम् ॥ अ-ह्-अ-म् = अहम् ॥ अ-ह-अ-म् = ओम् ॥ "तद् यत् सत्यम्-असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः । तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ । रश्मिभिर्वा एषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः । प्राणैरयममुष्मिन् । स एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः-तस्योपनिषद्- अहरिति । अथ योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः-तस्योपनिषद्-अहमिति । इति श्रुतेः (शत० का० १४।अ० ८।ब्रा.६) अहरिति सूर्यमण्डलदृष्टोऽण्डाभिमानीश्वरः । अहमिति चक्षुर्दृष्टो देहाभिमानी जीवः ।

जगत्समग्रं पुनरात्मसाम्यं गत्वा विलीनं भवतीति वच्यम् ।
हकार उत्वं प्रतिपद्य सन्धिं गच्छन् भवत्योमिति रूपसिद्ध्यै ॥
अकारतो नोष्ठविकार एवोकारे विकारोऽल्पतरो मकारे ।
व्यक्तो विकारस्त इमे क्रमन्ते सधर्मिणो बोधयितुं च भावान् ॥
मुख्यं ह्यधिष्ठानममुष्य पूर्वं पारेऽस्त्यकारोऽथ परे मकारः ।
विद्यासु कर्मस्वपि पूर्वपश्चात्पारस्थमोंकार इति व्यनक्ति ॥
आत्मैकतः स्यादधिविद्यमेष द्रष्टाऽन्यतो दृश्यमिदं जगत्स्यात् ।
स निर्विकारः प्रथमे तु पारेऽवारे जगत्पूर्णविकारमेतत् ॥
अन्तर्गतो भास्करबिम्ब एवं येऽर्था इहाग्न्यादय उत्प्लवन्ते ।
भासां परं मण्डलमर्गतं बाह्ये त्रयं तदोंकार इति व्यनक्ति ॥
अमूर्त्तमात्मा परमेश्वरेऽसौ बिभर्ति मूर्तीरपि सर्वदैव ।
रवेरिवैतस्य हि मूर्तिरेषा तामेष ओंकार इति व्यनक्ति ॥
ज्योतिर्मयो बिम्ब इहान्तरात्मा ज्योतिर्गृहीताविषया विसृष्टिः ।
ज्योतिर्विकाशस्य परा च सीमा त्रयं तदोंकार इति व्यनक्ति ॥
या भूर्भुवःस्वःप्रथिता त्रिलोकी वेदत्रयी देवगणत्रयी च ।
ईदृग्विधाना सकलास्त्रिमात्रा यास्ताः स ओंकार इति व्यनक्ति ॥
अकारतस्तत्र मनो गृहीतं प्राणो गृहीतस्तदुकारतोऽयम् ।
मकारतस्तत्र च वाग् गृहीता तदोमिति प्रोद्धरते त्रिसत्यम् ॥
प्राणो मनश्चेत्युभयं तु वाचोऽन्तस्थं वदन्त्यो इति साम्यहेतोः ।
प्राणोऽयमुःस्याद इदं मनः स्यात् तद्गर्भिता वागियमस्ति वौषट् ॥
वाक् सा मकारेण नियुज्यते चेत् तदोमिति स्यादिह यज्ञसंज्ञा ।
स्थूलो मकारोऽणुरुरन्तरङ्गोऽणीयानकारस्त्रिभिरोमिति स्यात् ॥
अकार उक्तः परमेश्वरोऽसावुकार उक्तो हरितीश्वरोऽसौ ।
मकार उक्तोऽहमिति प्रतीतस्तदोमिति प्रोद्धरते त्रिसत्यम् ॥
ओंकार आलम्बनमस्त्यमीषां ततोहराभाति ततोऽहमस्मि ।
ओंकारतो न व्यतिरिच्यतेऽन्यन्मन्यामहे तत्प्रथमं त्रिसत्यम् ॥

उपास्यमीश्वररूपं ब्रह्मगायत्री ।

१—प्राणो मनो वागिति भेदतस्त्रिवृद् भूमा रसः सर्वगतं तु यत्सुखम् ।
वाक् साऽस्ति सेयं विनियुज्यते द्विधा सा गायति त्रायत उत्तरं च सा ॥

१—आनन्दतः सर्वमिदं प्रजायतेऽथानन्द एवावति सर्वदाऽखिलम् ।
आनन्दिनः स्त्रीपुरुषस्य संततिश्चात्यन्तिकं दुःखमिदं म्रियेत यत् ॥
यो यत्र देशे दिशि यत्र यस्मिन् काले शरीरेण च यद्विधेन ।
जीवत्यमुष्मै त इमे निसर्गाद् रोचन्त इच्छत्यजितांश्च तांस्तान् ॥
न कोऽपि जीवेत् क्षणमप्यमुष्मा आकाश आनन्दमयो न चेत्स्यात् ।
स्वस्थे प्रशान्ते मनसि क्षणे वा लोकेषु वा तिष्ठति सर्वलोकः ॥
२—आनन्द आगायति पाति चाखिलं सा तेन गायत्र्युदिता सुखाधृतिः ।
आनन्द एवाजनि भूरियं ततो वाक् सास्ति गायत्र्यपि भूतधारिणी ॥
पृथ्व्याश्च देहो भवतीत्यतस्तनूर्वागस्ति गायत्र्यपि देवसंहिता ।
तनू रसैः स्याद् हृदयं ततश्च हृद्वागस्ति गायत्र्यपि देवसंहिता ॥
आनन्द आगायति पाति यद्वत् पृथ्वी शरीरं हृदयं च तद्वत् ।
आगायति त्रायत इत्यतस्ता गायत्र्य एव स्युरिमाश्चतस्रः ॥
एकताश्चतस्रोऽपि परस्परेणान्विताः सहैकत्वमुपैत्यभिन्नम् ।
आराध्यरूपं च पृथक् त्रिलोकी गायन्ति पान्तीति तदैक्यमिष्टम् ॥
* ३—पृथ्वी शरीरं हृदयं त्रयस्ते पादाः परात्मा च चतुष्पदी वाक् ।
एकैकपादे मनसः प्रवृत्ताः स्तोमविधाः प्राणविधाश्च षट् स्युः ॥
१ २ ३
अग्निस्त्रिवृत् पञ्चदशस्तथेन्द्रः स्यादेकविंशो रविरग्नयस्ते ।
४ ५ ६
सोमौ त्रयस्त्रिंशकसप्तविंशौ प्रजापतिः सप्तदशः स मध्ये ॥
पादैश्च षट्स्तोमविधाक्षरैस्तैः सा ब्रह्मगायत्र्युदिता ध्रुवं वाक् ।
सा वौषडेषा न कदापि रिक्ता स्तोमैर्भवेत् प्राणमयैस्तु षड्भिः ॥
चतुर्विधाङ्घ्रिस्थितये चतुर्धाऽक्षराः स्युरेते दहरोत्तराः स्यु ।
पूर्वत्र पूर्वत्र परः परःस्यादन्तर्निविष्टक्रम एष नित्यः ॥

---

* १ हृदयं	शरीरम्	पृथ्वी	परात्मा	ब्रह्मगायत्री	पादाः
२ हृदयं	शरीरम्	पृथ्वी	सूर्य्यः	सूर्य्यगायत्री	,,
३ हृदयं	शरीरम्	पृथ्वी	चन्द्रः	ब्रह्मगायत्री	,,
४ हृदयं	शरीरम्	चन्द्रः	परात्मा	सूर्य्यगायत्री	,,
५ हृदयं	शरीरम्	चन्द्रः	सूर्य्यः	सूर्य्यगायत्री	,,
६ हृदयं	शरीरम्	सूर्य्यः	परात्मा	ब्रह्मगायत्री	,,
४	३	२	१	षडक्षराः	,,

१
४—आकाशमस्त्यावपनं मनस्तत् सुखेन भूम्ना परिपूर्णमाद्यम् ।
२
पृथ्वीपरिच्छिन्नमिदं द्वितीयं चेत्थं महाकाशयुगं बहिर्धा ॥
३
अन्तः शरीरोपहितं तृतीयं तथा चतुर्थं हृदयोपपन्नम् ।
प्राणाश्च वाचश्च मनःप्रभेदात् क्लृप्ता विभिन्नाः सदृशाः स्वधर्म्मैं ।
येर्यैस्तु धर्मैः परिपूर्णमाद्यं तैरेव च श्रीण्यपराणि साम्यात् ॥
चतुर्थमेतद्दहरं मनो यत् तदप्रवर्तीति न पञ्चमं तत् ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
द्यावापृथिव्यौ हृदि सूर्यचन्द्रौ तथाग्निवायू अपि विद्युदृक्षम् ॥
(छां० ३।०।०।८।१)

यदस्ति यन्नास्ति च खे बहिर्धा सर्वं तदत्रापि तथाऽहितं स्यात् ।
परात्मपृथ्वीप्रहिता चतुष्पात् सा ब्रह्मगायत्र्युदितेयमाद्या ॥

सूर्यगायत्री ।

५—आदित्यपृथ्वीप्रहिता चतुष्पात्सा सूर्य्यगायत्र्यपि तद्वदूह्या ।
२ ३ ४ १
पृथ्वी शरीरं हृदयं त्रयस्ते पादा रविश्चेति चतुष्पदी वाक् ।
एकैकपादे मनसः प्रवृत्ता स्तोमाभिधा प्राणविधाश्च षट् स्युः ॥
यत्किञ्च दृष्टेर्विषयत्वमेयात् सर्वं तदग्नेस्त्रिवृतोऽस्ति कर्म्म ।
यत्किञ्च कुत्रापि बलं समेयादिन्द्रस्य तत्पञ्चदशस्य कर्म्म ॥
प्रवह्लितं भास्करकर्म्म सर्वं वेदः परस्याथ परस्य संपत् ।
सृष्टिस्त्वियं सप्तदशस्य सर्वा कर्म्माणि चान्यान्यखिलान्यमीषु ॥
१ २
आकाशमाद्यं रवितेजसेद्ध पृथ्वीपरिच्छिन्नमिदं द्वितीयम् ।
३ ४
अन्तः शरीरोपहितं तृतीयं तथा चतुर्थं दहरोपपन्नम् ॥

चन्द्रगायत्री ।

६—या चन्द्रपृथ्वीप्रहिता चतुष्पात्सा चन्द्रगायत्र्यपि तद्वदूह्या ।
२ ३ ४ १
पृथ्वी शरीरं हृदयं त्रयस्ते पादा विधुश्चेति चतुष्पदी वाक ॥

ज्यायान् य आद्यो निखिलेभ्य एभ्यः स एव चान्तर्हृदयेऽस्त्यणीयान् ।
अभ्यात्त एतत्सकलं यथाद्यस्तथायमेषोऽमुमितः प्रयाति ॥
आदित्यचन्द्रप्रहिता चतुष्पात्सा सूर्य्यगायत्र्यपि पञ्चमी स्यात् ।
परात्मसूर्य्यप्रहिता चतुष्पात्सा ब्रह्मगायत्र्यपरास्ति षष्ठी ॥
सूर्य्ये स्थितानां च शरीरिणां स्युश्चतस्र आकाशविधा हृदन्ताः ।
इत्थं च गायत्र्यपि षड्विधा स्यादागानसंत्राणविधाः पृथक् स्युः ॥
सूर्य्या असंख्याः प्रतिसूर्यमेताः पृथ्व्योऽप्यसंख्या बहवश्च चन्द्राः ।
परात्मनैषां पृथगात्मनां ये योगत्रयाणां तु मिथस्त ऊह्याः ॥
इत्थं च गायत्र्य इमा षडूहिताः सृष्टिक्रमे ब्रह्मत आदितः पुरा ।
तृतीयताण्डवोपनिषत् प्रपाठके खण्डे तथा द्वादशके नु दर्शिताः ॥
त्रयस्तु लोकास्त्रय एव वेदा प्राणास्त्रयः सा त्रिपदीयमन्या ।
परोरजास्तत्र तुरीयपादो व्याख्यायते वाजसनेयकेन ॥
परात्मचन्द्रप्रहिता चतुष्पात्सा ब्रह्मगायत्र्युदिता चतुर्थी ।
चन्द्रस्थितानामपि देहिनां स्युश्चतस्र आकाशविधा हृदन्ताः ॥
प्रतिष्ठिताऽध्यात्मप्रियं तु गायत्र्येषां गयास्तत्र इति प्रतीयात् ।
प्राणा गयास्तानवति ध्रुवं सा तेजोमयी वाक् सवितुः शरीरे ॥
परोरजाः सूर्य्य इहेति केचिद् विदुन नो विप्रतिपत्तिरत्र ।
परात्मनः संक्रमणात् त्रिलोक्यां परत्वतश्च स्तुतिमात्रमेतत् ॥

इति ब्रह्मचतुष्पद्यां विराट्परिच्छेदापरपर्याये व्यूहानुव्यूहपरिच्छेदे श्वईरानुगमतन्त्रं नाम द्वितीयदर्शनं पूर्णम् ।



३-अथ जीवदर्शनं प्रारभ्यते ।

जीवपरिचयः ।

नैकाङ्गुलस्येह शतांशमात्रोऽप्यस्ति प्रदेशः क्व च जीवशून्यः ।
स्थूलैरतिस्थूलतमैश्च सूक्ष्मैः सूक्ष्मातिसूक्ष्मैर्वृतमस्ति विश्वम् ॥
वायुर्हि वायव्यविशेषजीवैराग्नेयजीवैरयमग्निरेवम् ।
जलीयजीवैर्जलमस्ति सर्वं व्याप्तं तथा भूम्यपि भौमजीवैः ॥
जीवास्त एते द्विविधा हि केचित् सत्त्वैरसंख्यैः कृतगर्भदेहाः ।
केचित्पुनस्तत्र च सन्त्यनन्तगर्भास्त एते द्विविधा अनन्ताः ॥
व्यूढा अमी स्युः प्रथमा द्वितीया अव्यूढसंज्ञाः प्रथमाः पुनस्ते ।
जीवेश्वरा वा परमेश्वरो वा त्रिधा विभक्तास्त इमे निरुक्ताः ॥
अव्यूढजीवैस्तु कृतोऽन्त एकः परोऽन्त एवं परमेश्वरः स्यात् ।
एतावती चेतनसृष्टिरुक्ता अचेतनास्तद्बहिरन्तरे च ॥
एकोऽन्त एवं परमेश्वरोऽसावथापि रेते खनिजाः परोऽन्तः ।
एतावती भौतिकसृष्टिरुक्ता भूतानि देवाश्च ततो बहिः स्युः ॥
देवैश्च भूतैः खनिजा अशून्या उद्भिज्जवर्याः खनिजैरशून्याः ।
अव्यूढजीवा उभयैरशून्या व्यूढास्तु जीवैरपि तैरशून्याः ॥
माहेश्वरं नाम शरीरमेतज्जगत् तदीश्वरदेहसंघैः ।
व्याप्तं तदस्तीश्वरदेहमन्यैर्जीवैः परिव्याप्तमनेकरूपैः ॥
शरीरमेकं बहुभिः शरीरैर्व्याप्तं तदेकैकमपीतरैस्तैः ।
जीवेऽन्यजीवाः पुनरन्यजीवा योऽनन्यजीवः सृमरः स उक्तः ॥
जीवैर्यथाजीवशरीरमस्तीदमैश्वरं तद्वदुपेश्वरैः स्यात् ।
उपेश्वरास्तद्वदुपेश्वरैः स्युः कृता अथान्ते त्वनुपेश्वराः स्युः ॥
गन्धर्वखेटाः परिवारशून्याश्चन्द्रो वृतस्तैः स उपेश्वरोऽस्ति ।
चन्द्रैश्च पृथ्वीं पृथिवीभिरर्कस्त्रैलोक्यदेहः स उपेश्वरोऽस्ति ॥
बहुधा परिलोकयो बहवो हि सूर्या यस्यारभन्ते तु शरीरमेकम् ।
तमीश्वरं कंचन विश्वनाथं पश्याम्यनेके परमेश्वरे ते ॥

तत्रास्ति योऽयं परमेश्वरोऽस्मिन् मनोऽस्ति भूमैव न तस्य सीमा ।
यावन्मनस्तिष्ठति सर्वमस्मिन् मनोमयोऽसौ परमेश्वरः स्यात् ॥
मनस्तु न प्राणविनाकृतं स्यात् प्राणो बलं तन्मनसोत्थितं स्यात ।
मनस्यखण्डे तु बलस्य खण्डा व्याप्ताः कृतात्मा परमेश्वरस्तैः ॥
प्राणाश्च वाचा न विनाकृताः स्युर्मनःप्रयुक्ताः प्रचरन्ति वाचु ।
वेदांश्च यज्ञांश्च सभूतदेवान् प्राणा हि वाचा प्रणयन्ति नित्यम् ॥
वेदैश्च यज्ञैरपि भूतदेवैरयं कृतात्मा परमेश्वरोऽस्ति ।
यावन्त एते क्व च सन्ति सर्वे ते कार्त्स्न्यतोऽस्मिन् परमेश्वरे स्युः ॥
मात्राभिरेवं निखिलाभिराभिस्तूत्पन्न एकैक इहेश्वरोऽस्ति ।
यथेश्वरास्तद्वदुपेश्वराः स्युर्नानाविधाः सन्त्युभयेऽप्यनन्ताः ॥
अथेश्वराणां च तनुष्वनन्ता जीवास्तथैतेष्वपि सन्ति जीवाः ।
प्राणो मनो वाग् विकृता यथा वा स्युरीश्वरे तद्वदिहापि जीवे ॥
वाचो विकारास्तु न सन्ति तुल्या यथाऽवकाशं हि त उद्भवन्ति ।
काये विशाले तु यथेश्वरे स्युर्जैवेन ते तावदिहाल्पमात्रे ॥
द्विधा तु सृष्टौ विचिकित्सितं स्याद् भूमोत्तरा सास्त्यणिमोत्तरा वा ।
आदावभूवन् खनिजास्ततस्तूद्भिज्जाश्च तेष्वप्यणुतो विशालाः ॥
अव्यूहसव्यूहकृमिप्रभेदाः क्षुद्राः पुरस्तात् परतो महान्तः ।
जीवास्ततः क्षुद्रमहत्क्रमेण स्युरीश्वरास्तैः परमेश्वरोऽन्ते ॥
सृष्टिः समाप्ता परमेश्वरेऽस्मिन् बभूव तद् यद् भवितव्यमासीत् ।
असंख्यकालात् परमेश्वरोऽसौ परं बभौ नोत्तरमस्ति सृष्टिः ॥
विकाशवादोऽयमनीश्वराणामनार्य्यजुष्टोऽस्ति न चैवमार्य्याः ।
नृणां पशुभ्योऽथ नवेश्वराणां नृभ्यः प्रसृष्टीरनुमोदयन्ति ॥
मते परस्मिन् परमेश्वरः प्राग् बभूव तस्मात् क्रथतोऽणुसृष्टिः ।
आत्मा च रूपं च शरीरमन्यद्वित्तं चतुर्वर्ग इहैकसृष्टिः ॥
आत्मा पुरासीत् परमेश्वरोऽयं भूमाऽविशेषः स हि निर्विकल्पः ।
रूपाणि वाक्प्राणमनांसि सत्रा भूम्नैव सर्वत्र बभूवुरादौ ॥
वेदाश्च यज्ञा अपि भूतदेवा भूम्नाऽभवंस्तैः कृतमस्य देहम् ।
एष त्रिवर्गः प्रथमास्ति सृष्टिस्तन्त्रं तदेकं प्रथमं तदासीत् ॥
अथास्य वित्तं पुनरस्य तन्त्रे कालेन वृत्तं हि तदन्यतन्त्रम् ।
स्वे स्वामिनाऽत्यन्तधृतेऽपि तस्मिन्नात्मा पृथक् तन्त्रमतः पृथक् तत ॥

त्रैलोक्यपृष्ठेऽति परश्चिदात्मा स ईश्वरः सूर्य्य उपेश्वरोऽयम् ।
तत्रापि पृथ्वीयमुपेश्वरः स्याज्जीवा वयं तस्य च तन्त्रगाः स्म ॥
सूर्यश्च चन्द्रः पृथिवी तथान्येऽप्युपेश्वराः सन्ति किलेश्वरस्य ।
जीवाश्च वित्तानि यथा नृदेहे सत्त्वा अनेके कृमरादयः स्युः ॥
अत्रेदमन्यद्विचिकित्सितं पुनर्वित्तात्मविज्ञानबलप्रवृत्तयः ।
भवन्ति यास्ता अपि वेत्ति वा न वा वित्ती स्ववित्तान्यपि वेत्ति वा न वा ।
अस्माकमङ्गेषु सतां तु देहिनां भवन्ति या ज्ञानबलप्रवृत्तयः ॥
न ता न तानप्यवधारयामहे तथेश्वरास्ते परमेश्वरोऽपि वा ।
यथा मदङ्गेषु सतस्तु देहिनो नाहं विजानामि न मां च ते विदुः ॥
वयं च विद्मो न तथेश्वरं परं ध्रुवं तथाऽसावपि वेत्ति नैष नः ।
भिन्नः क्रमो वा ध्रियतेऽण्डपिण्डयोः पिण्डे परिच्छिन्नमिदं मनो मम ॥
तदिन्द्रियेष्वेव करोति चेतनां न चेन्द्रियार्थानतिरिच्य वेत्ति सः ॥
अण्डे विभोरस्य तु नेन्द्रियं पृथक् सर्वेन्द्रियस्य समाः प्रवृत्तयः ।
तन्त्रे निजार्थानखिलान्निजाङ्गवत् प्रत्येति तत्राधिकरोति कामतः ॥
तस्येश्वरस्यानु तु सृष्टिमेषा सृष्टाऽभवद् भूमिरथेह पश्चात् ।
रसानुपादाय दिवस्पृथिव्योः सत्त्वा बभूवुः कृतसत्त्वगर्भाः ॥
तत्रापि पूर्वं तु नरा अभूवंस्ततोऽल्पमात्राः क्रमशोऽनुजाताः ।
पश्चात् कृमिभ्यो न परा अभूवन्नुद्भिज्जपूर्वाः खनिजास्तथान्ते ॥
याः केशलोमास्थिशिराधमन्यस्ताभ्यः स्युरुद्भिज्जगणाः क्रमेण ।
तत्रापि पूर्वं स्युरिमेऽतिमात्रास्ततोल्पमात्राः क्रमशो बभूवुः ॥
ये जीवजोद्भिज्जगणा अभूवन् मांसास्थिमज्जादिभिरेव तेषाम् ।
भूम्याहितैस्ते खनिजा अभूवन्नानाविधाः कालविपर्य्ययेण ॥
विस्फोटवादोऽयमिहैकदेशिनां तेषां मतेऽभूत्परमेश्वरादिदम् ।
सर्वं जगत् तत्र समुच्चितं बलं विश्लिष्य चैवं बहुधाऽभवत् क्रमात् ।
असंख्यकीटैः क्वचिदेककीटः संपद्यते भुक्तिवशादमीषाम् ॥
मृतैकदेहे च सहस्रशस्ते भवन्त्यपूर्वाः कृमयः क्वचिद्वा ।
निर्धारितं तेन च नावगम्यते भूमोत्तरं वास्त्यणिमोत्तरं जगत् ॥
भूमैव तु ब्रह्म तदस्ति पूर्ववत् स्फोटात्तु तस्योचितमेतदीक्ष्यते ।
मनुष्यवद्वा तदिदं समीक्ष्यतामुत्पद्यमानस्य हि वर्ष्मणो नृणाम् ।
आपचाः सर्वविधाः समन्ततः सहैव भावा प्रभवन्ति तद्गताः ॥

इदं जगन्नाम तु पारमेश्वरं शरीरमस्त्यत्र गता हि कृत्स्नशः ।
भावाः सहोद्यन्ति तदन्तरे क्वचिन्नश्यन्ति भावा उदियन्ति वा नवा ॥
यथा तु जीवस्य तनौ मितायुषोऽस्यां यावदायुः स्थिरतामुपेयुषः ।
भावा इमेऽन्यान्यतया विवर्त्तिताः स्युरैशदेहेऽपि तथामितायुषः ।
सर्वेऽपि भावा इह सन्ति सत्याः सर्वेऽपि भावा इह सन्त्यसत्याः ।
यन्मूलतत्वं तदिहास्ति सत्यं तस्यैव नानात्वमिदं त्वसत्यम् ।

जीवपरिचयः ।

यदस्ति किञ्चिद् द्विविधं तदीक्ष्यते सचेतनं किञ्चिदचेतनं तथा ।
तच्चेतनं यत् किल सेन्द्रियं भवेन्निरिन्द्रियं द्रव्यमचेतनं विदुः ॥
मन्ये द्विधाप्यस्ति जगत् तदैश्वरं जीवाख्यया तत्र वदन्ति चेतनम् ।
यथेश्वरस्तद्वदयं प्रतीयते व्यूहैरनुव्यूहित इत्यनुब्रुवे ॥
नाना त्रिलोक्यः सह सन्निविष्टा तत्रेश्वरे किन्त्विह जीवमूर्तौ ।
एका त्रिलोकी प्रतिभाति तस्मादल्पं स जानात्वयमत्र भेदः ॥
तत्रेश्वरे हीन्द्रियसन्निवेशः पृथग्विधो ज्ञानविधा च नित्या ।
जीवे तु यज्ज्ञानमुदेति तस्मिन् क्रमं निमित्तं च निदर्शयामि ॥

ज्ञानोत्पत्तिक्रमः ।

स्वच्छं जलं सैन्धवतिक्तमिष्टाम्लक्षारयोगेन यथा तथा स्यात् ।
तथेन्द्रियं स्वच्छमिदं यथाऽस्मिन् पृणक्ति कश्चिद्विषयस्तथा स्यात् ॥
नात्तीएययन्ते विषयप्रदेशान्नाप्यक्षदेशान् विषया श्रयन्ते ।
सूर्यांशवोऽर्थात् परिवर्त्य चक्षुर्देशं गतास्तत्प्रतिमा भवन्ति ॥
घटादयोऽर्थाः परमेश्वरस्थाः सूर्यांशवः सन्ति तदेश्वरस्थाः ।
अक्षं तु जीवस्थमिदं तदेषां संयोगतो ज्ञानविशेषसिद्धिः ॥
स्पर्शश्च रूपं रसगन्धशब्दाः सर्वेप्यमी ईश्वरभाविताथीः ।
ते पञ्च देवा अधिदेहमेतैः संसृज्य देवैर्जनयन्ति बोधम् ॥
ओंक्लृप्तवस्तुस्थितवाक्प्रयुक्ताहरंशुवागेत्यहमक्षिवाच ।
प्राणत्रयव्यापृतितस्त्रयाणां ज्ञानोदयोऽयं मनसामिहैक्यात् ॥
निर्म्माय वस्त्वाकृतिमिन्द्रियं मनस्याधाय विश्राम्यति तन्मनः पुनः ।
तामात्मनि स्थापयति स्वभावतो वयं तु तत्रात्मनि तत्स्थितिं विदुः ॥

अवग्रहं नाम तदद्रिजन्यं ज्ञानं विदुः प्रत्ययपूर्वकाण्डम् ।
रूपादयोऽनेन गुणा गृहीता भवन्ति न द्रव्यमिहेन्द्रियार्हम् ॥
यदिन्द्रियव्यापितृजे त्ववग्रहे वृत्ते मनो व्याप्रियते तदाहितम् ।
ज्ञाने सताप्तेऽपि मनः पुनः कुतो व्यवस्यतीत्त्यत्र निमित्तमुच्यते ॥
यदेन्द्रियं स्वं विषयं हृदि स्वयं समर्पयत्यत्र तदा पुरोहिताः ।
संस्कारभेदा विविधाश्रया भवन्त्युद्बोधितास्तेन तनोति संशयम् ॥
मरुस्थलोद्रिक्तमरीचिघट्टनादूर्मिं भवन्तीमिदमक्षि पश्यति ।
उद्बुद्धसंस्कारवशात्मनः कचिज्जलेऽनिले रश्मिषु वोपसर्पति ॥
मनो यदा संशयमात्मनि स्वयं समर्पयत्याशु तदात्मनात्मनः ।
नियुज्यते वास्तवमर्थमीक्षितुं जिज्ञासया तेन मनः प्रवर्तते ॥
उर्मिं दृशोऽवाप्य तु केवलं मनः स्वकर्मणि व्याप्रियते विमर्शने ।
दृष्ट्वा बलं साधकबाधकान्वये द्रव्यं किमप्येकमधीत्य तिष्ठति ॥
उद्बुद्धसंस्कारमयं हि तन्मनः संस्कारजानेकविकल्पमध्यतः ।
आदाय किञ्चिच्च विहाय किञ्चिदवाप्य चोद्धार्य तदर्थरूपम् ॥
यत्रैव किञ्चित्कचिदित्थमिन्द्रियं गृह्णाति सर्वत्र मनोऽपि पृष्ठतः ।
विकल्प्य तत्साधकबाधकान्वयादन्वीक्ष्य गृह्णाति तदा हितं मतम् ॥
प्राङ् नान्वभूत् संस्कृतिरत्र नाभून्न साधकं बाधकमन्यमाप्नोत् ।
मनोऽर्पयत्यात्मनि तर्हि सद्यो यथावदेवेन्द्रियलब्धमर्थम् ॥
निःसंशयं त्वात्मनि तन्मनो यदा समर्पयत्यर्थमसाधु साधु वा ।
सोऽवायउक्तो भवतीह धारणाज्ञानं चतुःकाण्डमितीत्थमुच्यते ॥

इति जीवदर्शनम् ।

इति व्यूहानुव्यूहापरपर्य्यायो विराट्परिच्छेदः ।



आत्मपरिच्छेदः ।

जीवचतुरात्मसंस्थायाम् ।

१—प्रत्ययात्मवादः ।

आजन्मकालादनुकालमिन्द्रियैश्चित्तेन चार्था उपपद्य कुत्रचित् ।
कोशे ध्रियन्ते ननु तत्र धारितास्ते प्रत्यया यन्ति विवृद्धिमन्वहम् ॥
ते प्रत्यया ये प्रभवन्ति धारिताः स एष आत्मेति वदन्ति केचन ।
चेन्नेन्द्रियाणि स्युरथेन्द्रियोत्थिता न प्रत्ययाः स्युर्न तदात्मसंभवः ॥

प्रत्ययातिरिक्तात्मवादः ।

इदं मतं साधु भवेत्तदा जीवात्ममात्रं प्रभवेत् सहेन्द्रियम् ।
ईक्षे तु ब्रह्माण्डतनुं तथापरे विश्वात्मकं तत्र न चेत्थमिन्द्रियम् ॥
केनेषितं प्रेषिमेति नो मनः प्राणश्च केनैति पुरः प्रयोजितः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति वा चक्षुःश्रुती वा प्रयुनक्ति कः परः ॥
वक्तीन्द्रियं नो शृणुते शृणोति यन्न वक्ति तन्नो मनुते न पश्यति ।
एकस्तु कश्चिन्मनुते शृणोति च ब्रूते श्वसन् पश्यति चाहमस्मि सः ॥
दिदृक्षया गच्छति दृङ् न पादं युनक्ति पादो न दिदृक्षते वा ।
मन्ये दिदृक्षा दृशि नास्ति योऽयं दिदृक्षते गच्छति वा स आत्मा ॥
यदा करेण स्पृशतीह नायं पादः करं नापि करः स पादम् ।
प्रत्येति यो वा मनुते करेण स्पृशामि पादेन च सोऽयमात्मा ॥
स चक्षुषश्चक्षुरयं श्रुतेः श्रतिर्वाग् वाच एवं मनसो मनसश्च सः ।
प्राणस्य स प्राण इहैक एव स प्रत्येति नाना तु विभिन्नसाधनैः ॥
नानाविधः प्रत्ययसंगृहीतो यः कश्चिदन्यः स मतोयमात्मा ।
तमन्तरा स्पर्शनदर्शनादेर्द्रव्यैकतेयं प्रभवन्न जातु ॥
एकायनं प्रत्ययसाधनानां यदिन्द्रियाणां स भवेदिहात्मा ।
स एव तद् वक्ति न वक्ति वाक् सा स्वतो न वाग् वृत्तिरुदेत्य कामात् ॥
न स्वैरमेतानि चरन्ति नात्मना विना भवेत्प्रत्ययजन्म कर्हिचित् ।
तस्मादयं प्रत्ययतोऽतिरिच्यते ते प्रत्यया आत्मनि यान्ति संचयम् ॥

२—कोशात्मवादः ।

ये प्रत्यया इन्द्रियतः समुत्थिताः कोशे ध्रियन्ते त इमे क्व चान्तरे ।
स कोश आत्मेति परोऽनुमोदते न वर्द्धते नो ह्रसतीह जात्वयम् ॥
तत्रेन्द्रियोत्थाः प्रभवन्ति वर्द्धितास्ता धारणा आत्मनि निर्विकल्पके ।
एकस्तु सोऽन्याऽन्यनिचेयभेदतस्तल्लक्षितोऽनेकविधः प्रसिद्ध्यति ॥
स्युः पञ्चकोशाः प्रथिता इहात्मनस्तेऽन्नं बहिः प्राण इतोऽन्तरे मनः ।
विज्ञानमानन्द इति क्रमादिहाऽन्तरेऽनन्तरिता समासते ॥
ये पञ्चकोशास्त इमे शरीरवत्संस्थाः शरीरेऽन्तरमन्तरं गताः ।
आशीषमापादतलं वपुः समं व्याप्ताः स्युरालोमनखाग्रदेशतः ॥

३—कोशवदात्मवादः ।

परे वदन्त्यत्र न कोश आत्मा परस्य कस्येह भवेत्स कोशः ।
न प्रत्ययानां बहवस्तु कोशाः स्युरूर्ध्वमेते जनिताः पृथक्स्थाः ॥
अन्नादयो बाह्यचरा न तेषां संभाव्यते कोश इहान्तरन्यः ।
स्वयं तु तेऽन्नादय एव कोशास्ते यस्य कोशाः स निचेय आत्मा ॥
कोशो भवेदावरणं स चात्मा न्यान्यत्किमप्यावृणुतेः प्रकाशी ।
अनात्मना त्वाव्रियते स आत्मा कोशः स तेनेह भवेदनात्मा ॥
कोशैरमीभिः क्रमशो विविक्तैः शिष्यतेऽभ्यन्तरतः स आत्मा ।
स निर्विकल्पोस्ति हि निर्विशेषः कोशावृतेर्दृश्यत एष नाद्धा ॥
तदात्मसंबन्धवशात्तु कोशे नैकेन वा पञ्चभिरेव वायम् ।
विशिष्टरूपो व्यपदेष्टुमात्मा प्रदीपवल्लक्ष्यत एव लोके ॥

४—चिदात्मवादे कोशचितिः ।

परे पुनः प्राहुरयं चिदात्मा चिनोति यश्चीयत एव वा यः ।
चितिर्भवेत् यत्र स एष वा स्यात् स एव चित्यः स चितेनिचेयः ॥
दृष्टास्तदित्थं बहवः प्रवादा यद्यप्यमीषु प्रतिपत्तिभेदाः ।
तथापि नास्त्येवतु वस्तुभेदो दृष्टिप्रभेदात्तु विकासते धीः ॥
अत्रेष्टकाभिश्चयनानि विद्याश्चित्याश्च ताः पञ्चविधा पृथग्वत् ।
स्युः कोशतः पूरुषतोऽथ लोकाद्धातोः परात्मद्वयतश्च साकम् ॥

आनन्दविज्ञानमनांसि तद्वत् प्राणोऽन्नमेताश्चितयः शरीरम् ।
अन्नं तदाद्या चितिरस्ति तत्राऽनन्दः क्रमात्तिष्ठति पञ्चमी सा ॥
गर्भाशयोऽस्याः पृथिवी च वेदिश्चीयन्त आद्राविह पञ्च कोशाः ।
तत्रैकतः शुक्रमथैकतोऽसृग्भूतं तदन्नं प्रथमेष्टका सा ॥
प्राणेष्टका यद्धि बलं प्रयुङ्क्ते कामी पुमान् कामयमान रामाम् ।
विज्ञाय विज्ञानवतीं प्रहृष्टश्चानन्दयत्यत्र तथेष्टकास्ताः ॥
आनन्दविज्ञानमनोबलानां स रेतसामेकमपीह न स्यात् ।
यदि ध्रुवं तर्हि चितिर्न जाता न गर्भ आधीयत इत्यवैमि ॥
पञ्चेष्टकाः स्त्री च पुमांश्च साकं तत्रोपधत्तः पृथगर्द्धजीवौ ।
उपाहितास्ते न च पञ्च कोशाः साद्या शरीरात्मचितिर्निरुक्ता ॥
पञ्चापि कोशास्त इमे पृथग्रसा न न्यूनतो नाप्यतिरेकतश्चिताः ।
पूर्वा चितिर्यावति तावति ध्रुवं लग्नावकाशे चितिरुत्तरा भवेत् ॥

चिदात्मवादे पुरुषचितिः ।

प्राणं विदुः पूरुषमत्र देहे स्यात्साप्तपौरुष्यपरा चितिश्च ।
पूर्वत्र चित्यां पुरुष यथा स्युस्तथाहि ता एव परत्र चित्याम् ॥
पक्षाविह द्वावथ पुच्छमेकं चत्वार आत्मेति विभाग एषाम् ।
यावत्सुषुम्णान्वितमेरुयष्टिः स तावदात्माऽथ तदन्यदन्यत् ॥
ये पूरुषाः सप्त तु पक्षिदेहे तेषां रसैरस्य शिरः पृथक् स्यात् ।
पशोश्च कीटस्य कृमेस्तरोर्वा देहे च सर्वत्र तथैव विद्यात् ॥
एकैकपर्णस्य विधौ द्रुमाणां पृथक् पृथक् सप्त च पुरुषाः स्युः ।
या मध्यमा यष्टिरियं स आत्मा पक्षौ च पुच्छं च शिरश्च कल्प्यम्॥
प्राणोऽन्नमप्यरित यथा नराणां देहे चतुष्पाद्विहगादिकानाम् ।
आनन्दविज्ञानमनांसि तद्वत् प्राणानुरूपाणि चितानि तु स्युः ॥
आत्माश्रितान्येव हि पक्षपुच्छान्यात्मा तु नात्मानमपोज्झहाति ।
यावन्तमात्मा प्रथमोऽवकाशं गृह्णाति तावन्तमिहोत्तरोऽपि ॥
यो मेरुदण्डः स मतोऽत्र पृष्ठ्या हृदा विभक्ता चतुरोऽत्र भागान् ।
आत्मानमाहुश्चरणौ च हस्तौ पक्षौ मनुष्येऽस्ति न पुच्छभागः ॥
यावन्मनुष्यस्य तु पश्चिमेंऽशे प्राणक्षयात् पुच्छनिवृत्तिरस्ति
प्राणाभिवृद्ध्यास्ति शिरोविभागे ज्ञानाभिवृद्धिः खलु तावदेव ॥

चिदात्मवादे लोकचितिः ।

एकैकचित्यामथ लोकतोऽन्या चितिर्बभूवेति विशिष्य विद्यात् ।
शरीरमेषा पृथिवी शिरो द्यौर्द्यावापृथिव्यौ रसमश्चिते ते ॥
योन्यादिनाभ्यन्तमियं तु पृथ्वी नाभेर्हृदन्तं तदिहान्तरिक्षम् ।
हृदादिकण्ठान्तमिहास्त्यसौ द्यौरित्थं त्रिलोकीरसतः शरीरम् ॥
ऊर्ध्वं गतैस्तैः सहितैस्त्रिलोकीरसैः शिरस्तद्वदुदेति भिन्नम् ।
मस्तिष्कमूर्ध्वाऽप्यधरा हनुश्चेत्येवं त्रिलोकीयमिहापि नेया ॥
भुजप्रकोष्ठप्रतलानि हस्ते तथोरुजङ्घाप्रपदानि पादे ।
यदस्ति किञ्चिद् त्रिविधं सरीर सर्वं त्रिलोकीरसतस्तदूह्यम् ॥
साग्नि तु पृथ्वी प्रथमोऽस्ति लोकश्चन्द्रश्च वायुश्च तथान्तरिक्षम् ।
द्यौः सूर्य इत्येवमियं त्रिलोकी ततः परज्योतिरिदं चतुर्थम् ॥
यन्मध्यमं गात्रमिदं मनुष्ये सास्ति त्रिलोको त्रिविभक्तिदृष्टा ।
इदं चतुर्थं तु शिरः परेण स्याज्ज्योतिषा तत्र रसस्त्रिलोक्याः ॥
शिरोऽधितिष्ठत्यपि चेतनत्वादचेतनं सर्वमिदं शरीरम् ।
मनोवशात् प्राणचयोऽथ तस्मात् स चेष्टते भूतचयः प्रगुन्नः ॥

चिदात्मवादे धातुचितिः ।

प्राणोऽयमग्निः पुनरन्नकोशेभुक्तान्नतः सर्गमलं तनोति ।
ते धातवः स्युर्विविधास्ततः स्यात् पोषः शरीरस्य पृथुत्व योगात् ॥
लोमत्वचासृक्पिशितानि मेदोऽस्थिमज्जश्च क्राणि चितानि च स्युः ।
बाह्यान्यथाङ्गात् क्रमशोऽन्तरङ्गान्येतानि सन्तीति वदन्ति वृद्धाः ॥
चर्मोच्यते वेष्टनकं वसाया मांसस्य चास्थ्नश्च पृथक् पृथक् तत् ।
वसा च मांस मृदु कर्कशास्थि प्रचीयतेऽन्नं दृढसूत्रजाले ॥
मज्जास्थिन रेतोऽत्र शिराधमन्यः स्नायुश्च सूत्राणि ततानि तेषु ।
तद्ग्रन्थयः शोणितपित्तवातश्लेष्माणि नाना तु मला रसाश्च ॥
त्वग् गोईनाडी कठिनानि मज्जा फले यथा पञ्च भवन्ति भागाः ।
त्वङ्मांसनाड्योऽस्थि च तत्र मज्जा चित्या इमा पञ्च तथा वपुः स्यात् ॥

य एष कोशोऽन्नमयः स उक्तो भूतात्मसंज्ञोऽत्र रसात्रयः स्युः ।
❋भौमश्च दिव्यश्च परश्च तेषां भौमे त्वगस्थ्यादिकृता चितिः सा ॥
धातोश्चितिस्त्वन्नमयेऽस्ति कोशे या पौरुषी या त्विह लौकिकी वा ।
सा चोभयी प्राणमयेऽस्ति कोशे प्राणं तमन्वेत्र च धातवः स्युः ॥
प्राणक्रियाः सर्वविधाः फलन्ति प्राणातिरेकेण तु पङ्गवोऽन्ये ।
प्राणस्य चित्याऽन्नचितौ कृतायां मनस्त्रयं तत्र चितं स्वतः स्यात् ॥

चिदात्मवादे भूतात्मचितिः ।

प्रज्ञानवैश्वानरतैजसाख्या आत्मान एते त्रय एक आत्मा ।
वैश्वानरे त्वात्मनि तावदेताश्चतुर्विधाः स्युश्चितयो निरुक्ताः ॥
अथात्र यस्तैजस एष तस्मिन् चित्या तु वृद्धा अपिजन्तवोऽपि ।
क्षुद्राः समुद्भूय शनैर्लभन्ते शरीरवृद्धिं दिवमभ्ययन्ते ॥
डिम्भः शिशुः सोऽथ किशोर एवं तारुण्यभाग् यौवनभाग् जराभाग् ।
क्रमेण भूत्वा स्थविरोऽन्तमेयादेवा चितिः सप्तविधा पृथक् स्यात् ॥
प्रज्ञाचितेस्तु क्रमतः स बालः प्रौढः प्रवीणो भवतीह विद्वान् ।
प्रज्ञा यथा वर्द्धत एष नूनं वैशिष्ट्यमायाति तथोन्नतिं च ॥
इत्थं चितिर्भिन्नविधास्ति सर्वा यस्मिंश्चितिर्यश्चिनुते चितो यः ।
यश्चीयमानः पुरुधा प्रतीतो भवत्यसावुच्यत एक आत्मा ॥

प्रकारान्तरेण पञ्चात्मसंस्था ।

अथान्यथापि प्रतिपादयामः पञ्चात्मसंस्था इतरे यथाहुः ।
एकं चतुष्कं त्रिकमेकमेकं संस्थाक्रमादात्मविभागमाहुः ॥
उक्थं च यद् ब्रह्म च साम कर्म्मणामात्मा स नात्मानमृते क्रिया भवेत् ।
स पञ्चधाऽऽत्मा प्रथते शरीरतः शरीरसञ्चालकधर्म्मभेदतः ॥

❋ भौमः – अन्नमयः–प्राणमयः–मनोमयः–विज्ञानमयः–आनन्दमयः–कोशतः १

भौमः— { चत्वारः प्राणा आत्मा ४–द्वौ प्राणौ पक्षौ–२–एकः प्राणः पुच्छम् १ पुरुषतः २ / यौनिनाभी–नाभिहृदये–हृदयकण्ठौ–कण्ठब्रह्मरन्ध्रे लोकतः ३ }

भौमः— { त्वक्-रक्तम्-मांसम्-मेदः-अस्थि-मज्ज-शुक्रम् । धातुतः ४

दिव्यः— { डिम्भः–शिशुः–किशोरः तारुण्यम्-यौवनम् । जरा–स्थाविर्यम् । आत्मतः

परः— { बालः— प्रौढः— प्रवीणः

सूत्रं परात्माऽथ कर्म्मभोक्ता हंसः शरीरं सहयोगिनोऽमी ।
मर्त्याश्रितास्ते ह्यमृतास्त्रयः स्युमर्त्यस्थितिर्न त्वमृतैर्विना स्यात् ॥
पृथ्वीरसोऽयं द्विविधोऽस्ति मर्त्योऽमृतश्च देहः प्रथमः स मर्त्यः ।
मर्त्यं शरीरं तदनेकवैद्यैर्विशेषतो वर्णितमन्यशास्त्रे ॥
पूयेत तद् येन विना श्वयेद्वा तमात्मवर्गं विदुरन्तरेऽस्य ।
तत्रामृतश्चन्द्रदिनेशविद्युच्चिदात्मयुग् भूमिरसः स भोक्ता ॥
बद्धानुबद्धैरमृतैश्च सूत्रानुगुम्फितैः प्राणमयोऽन्तरात्मा ।
वैश्वानरं तैजसमाप्नुवान प्राज्ञः स कर्म्माणि कृतानि भुङ्क्ते ॥
सर्वेन्द्रियो भूतमयः शरीरी प्रख्यायते यज्ञमयो य आत्मा ।
सितासितैः कर्म्मफलैः स एवाभिभूयते प्रेत्य स जायते च ॥
मर्त्ये शरीरेऽस्ति हि कर्म्मभोक्ता यथैष पञ्चामृतयज्ञ आत्मा ।
तथैव पञ्चामृतयोगसिद्धः परो यमात्माऽन्तरतो विभाति ॥
लोकत्रयातीतपरात्मचिद्रसश्चान्द्रो रसः सूर्य्यरसो द्विधा कृतः ।
यज्ञश्च योऽन्यः परमेष्ठिनो रसः पञ्चापि सूत्रात्मकृतवानुबन्धनाः ॥
सौरो रसः प्राण इहास्ति मुख्यो द्विधा भवत्यन्नसमन्वयेन ।
चान्द्रे स विज्ञानमयोऽर्द्धतोऽन्तर्य्यामी परज्योतिषि चार्द्धतः सन् ॥
मनोमयश्चान्द्ररसोऽस्ति मुख्यप्राणात् पृथक् सा प्रकृतिर्गुणाख्या ।
पृथक् तथाऽऽनन्दमयोऽस्ति मुख्यप्राणात् परात्मैकरसः प्रसन्नः ॥
यज्ञस्तु योऽन्यः परमेष्ठिनो रसस्तेनायमात्मा परमात्मनां रसैः ।
नित्यं युनक्त्येव भुनक्ति भुज्यते तदन्नमन्नादिति यज्ञतः स्थितिः ॥
सूत्रात्मना केनचिदान्तरीत्येगौते सुदृब्धोस्तत एक आत्मा ।
मनोमयो ज्ञानमयो नियन्ताऽन्तर्याम्यथानन्दमयोऽत्यवस्थः ॥
आयन्ति यन्ति प्रतिवेलमेते न कर्म्मशक्तिर्न च बन्ध एषाम् ।
किन्त्वम्बुनीनप्रतिबिम्बवत् ते प्राज्ञे विभान्त्येव सदा विभुत्वात् ॥
प्राज्ञे निमित्तानुगमात कदाचित् सूत्रं श्लथीभूय यथा करोति ।
हृद्ग्रन्थिमोकं तत एकमेकं कैवल्यमायात्यमृतं पृथक् सत् ॥
आत्मा परात्मैव स इष्यते योऽखण्डस्तदर्थाः सकलाः प्रयत्नाः ।
तदाश्रयादेव तु सन्त्यनुक्तास्त आत्मशब्देन कलेवरान्ताः ॥

य एष कोशोऽन्नमयः स उक्तो भूतात्मसंज्ञोऽत्र रसात्रयःस्युः ।
❀भौमश्च दिव्यश्च परश्च तेषां भौमे त्वगाध्यादिकृता चितिः सा ॥
धातोश्चितिस्त्वन्नमयेऽस्ति कोशे या पौरुषी या त्विह लौकिकी वा ।
सा चोभयी प्राणमयेऽस्ति कोशे प्राणं तमन्वेत्र च धातवः स्युः ॥
प्राणक्रियाः सर्वविधाः फलन्ति प्राणातिरेकेण तु पङ्गवोऽन्ये ।
प्राणस्य चित्याऽन्नचितौ कृतायां मनस्त्रयं तत्र चितं स्वतः स्यात् ॥

चिदात्मवादे भूतात्मचितिः ।

प्रज्ञानवैश्वानरतैजसाख्या आत्मान एते त्रय एक आत्मा ।
वैश्वानरे त्वात्मनि तावदेताश्चतुर्विधाः स्युश्चितयो निरुक्ताः ॥
अथात्र यस्तैजस एष तस्मिन् चित्या तु वृत्त्वा अपिजन्तवोऽपि ।
क्षुद्राः समुद्भूय शनैर्लभन्ते शरीरवृद्धिं दिवमभ्ययन्ते ॥
डिम्भः शिशुः सोऽथ किशोर एवं तारुण्यभाग् यौवनभाग् जराभाग् ।
क्रमेण भूत्वा स्थविरोऽन्तमेयादेवा चितिः सप्तविधा पृथक् स्यात् ॥
प्रज्ञाचितेस्तु क्रमतः स बालः प्रौढः प्रवीणो भवतीह विद्वान् ।
प्रज्ञा यथा वर्द्धत एष नूनं वैशिष्ट्यमायाति तथोन्नतिं च ॥
इत्थं चितिर्भिन्नविधास्ति सर्वा यस्मिंश्चितिर्यश्चिनुते चितो यः ।
यश्चीयमानः पुरुधा प्रतीतो भवत्यसावुच्यत एक आत्मा ॥

प्रकारान्तरेण पञ्चात्मसंस्था ।

अथान्यथापि प्रतिपादयामः पञ्चात्मसंस्था इतरे यथाहुः ।
एकं चतुष्कं त्रिकमेकमेकं संस्थाक्रमादात्मविभागमाहुः ॥
उक्थं च यद् ब्रह्म च साम कर्म्मणामात्मा स नात्मानमृते क्रिया भवेत् ।
स पञ्चधाऽऽत्मा प्रथते शरीरतः शरीरसञ्चालकधर्म्मभेदतः ॥

❀ भौमः – अन्नमयः–प्राणमयः–मनोमयः–विज्ञानमयः–आनन्दमयः–कोशतः १

भौमः — { चत्वारः प्राणा आत्मा ४–द्वौ प्राणौ पक्षौ–२–एकः प्राणः पुच्छम् १ पुरुषतः २
यौनिनाभी–नाभिहृदये–हृदयकण्ठौ–कण्ठब्रह्मरन्ध्रे लोकतः ३ }

भौमः — { त्वक्-रक्तम्-मांसम्-मेदः-अस्थि-मज्जा-शुक्रम् । धातुतः ४

दिव्यः — { डिम्भः–शिशुः–किशोरः तारुण्यम्–यौवनम् । जरा–स्थाविर्यम् । आत्मतः

परः — { बालः — प्रौढः — प्रवीणः

सूत्रं परात्माऽथ कर्म्मभोक्ता हंसः शरीरं सहयोगिनोऽमी ।
मर्त्याश्रितास्ते ह्यमृतात्रयः स्युमर्त्यस्थितिर्न त्वमृतैर्विना स्यात् ॥
पृथ्वीरसोऽयं द्विविधोऽस्ति मर्त्योऽमृतश्च देहः प्रथमः स मर्त्यः ।
मर्त्यं शरीरं तदनेकवैद्यैर्विशेषतो वर्णितमन्यशास्त्रे ॥
पूयेत तद् येन विना श्वयेद्वा तमात्मवर्गं विदुरन्तरेऽस्य ।
तत्रामृतश्चन्द्रदिनेशविद्युच्चिदात्मयुग् भूमिरसः स भोक्ता ॥
बद्धानुबद्धैरमृतैश्च सूत्रानुगुम्फितैः प्राणमयोऽन्तरात्मा ।
वैश्वानरं तैजसमाप्नुवान प्राज्ञः स कर्म्माणि कृतानि भुङ्क्ते ॥
सर्वेन्द्रियो भूतमयः शरीरी प्रख्यायते यज्ञमयो य आत्मा ।
सितासितैः कर्म्मफलैः स एवाभिभूयते प्रेत्य स जायते च ॥
मर्त्ये शरीरेऽस्ति हि कर्म्मभोक्ता यथैष पञ्चामृतयज्ञ आत्मा ।
तथैव पञ्चामृतयोगसिद्धः परो यमात्माऽन्तरतो विभाति ॥
लोकत्रयातीतपरात्मचिद्रसश्चान्द्रो रसः सूर्यरसो द्विधा कृतः ।
यज्ञश्च योऽन्यः परमेष्ठिनो रसः पञ्चापि सूत्रात्मकृतवानुबन्धनाः ॥
सौरो रसः प्राण इहास्ति मुख्यो द्विधा भवत्यन्नसमन्वयेन ।
चान्द्रे स विज्ञानमयोऽद्धतोऽन्तर्यामी परज्योतिषि चाद्धतः सन् ॥
मनोमयश्चान्द्ररसोऽस्ति मुख्यप्राणात् पृथक् सा प्रकृतिर्गुणाख्या ।
पृथक् तथाऽऽनन्दमयोऽस्ति मुख्यप्राणात् परात्मैकरसः प्रसन्नः ॥
यज्ञस्तु योऽन्यः परमेष्ठिनो रसस्तेनायमात्मा परमात्मनां रसैः ।
नित्यं युनक्त्येष भुनक्ति भुज्यते तदन्नमन्नादिति यज्ञतः स्थितिः ॥
सूत्रात्मना केनचिदान्तरीद्येणैते सुदृब्धोस्तत एक आत्मा ।
मनोमयो ज्ञानमयो नियन्ताऽन्तर्याम्यथानन्दमयोऽस्त्यवस्थः ॥
आयन्ति यान्ति प्रतिवेलमेते न कर्म्मशक्तिर्न च बन्ध एषाम् ।
किन्त्वम्बुनीनप्रतिबिम्बवत् ते प्राज्ञे विभान्त्येव सदा विभुत्वात् ॥
प्राज्ञे निमित्तानुगमात् कदाचित् सूत्रं श्लथीभूय यथा करोति ।
हृद्ग्रन्थिमोकं तत एकमेकं कैवल्यमायात्यमृतं पृथक् सत् ॥
आत्मा परात्मैव स इष्यते योऽखण्डस्तदर्थाः सकलाः प्रयत्नाः ।
तदाश्रयादेव तु सन्त्यनुक्तास्त आत्मशब्देन कलेवरान्ताः ॥

सूत्रात्मा ।

यज्ज्योतिषां ज्योतिरिदं ततो ये समन्ततो रश्मय आभवन्ति ।
सूत्राणि तान्येषु भवन्ति चोतप्रोतानि सर्वाणि जगन्त्यमूनि ॥
सत्यामृताभ्यां तु समन्विताभ्यां सृष्टानि सर्वाणि मतान्यमूनि ॥
अनारतं तानि बिभर्ति सूत्रं प्रोतानि तु स्वांशुमये समन्तात् ।
त्रिलोक्य एता हि पर.सहस्राः सूत्रेण बद्धाः परितः क्रमन्ते ॥
लोकास्त्रयोऽपि क्रमसंनिविष्टाः सूत्रेण बद्धा न पदाच्च्यवन्ते ।
उपेश्वरा ईश्वरमाश्रयन्ते जीवा तथोपेश्वरमीश्वरं च ॥
व्यष्ट्या समष्ट्यापि यदस्ति किञ्चित् तदीश्वरेणानुगृहीतमस्ति ।
अयं हि देहो बहुभिर्विभिन्नैः भूतैश्च देवैः पृथगात्मतन्त्रैः ॥
कृतो निकायः प्रतिभाति तेषां तदैकतन्त्र्यं तदिहास्ति सूत्रात् ।
प्राणोऽप्यपानोऽपि च दिव्यभौमौ रसौ यदेकत्र निबद्धमूलौ ॥
नान्योन्यमेतौ जहितस्तदेतत् सूत्रप्रबन्धादिति संप्रतीमः ।
क्षेत्रज्ञ आत्मा शिरसाऽनुषक्तः शुक्रे च रक्ते च महानिहात्मा ॥
तयोश्च भूतात्मनि यः प्रसङ्गः स एष सूत्रात्मकृतो निबन्धः ।
सूत्रात्मना व्यान उपेत्य वायुः संस्तभ्य संदर्भति सर्वमङ्गम् ॥
तत्प्राणमात्राः सह भूतमात्राः प्रज्ञानमात्राश्च भवन्ति दब्धाः ।
सत्यामृताभ्यां तु स ईश्वरोऽयं सृष्ट्वाऽखिलं विश्वमिदं रसाभ्याम्॥
स्वेनांशुसूत्रेण पुनर्गृहीत्वा चतुर्दिशं भ्रामयतीव कामम् ।
स ईश्वरः सूत्रत एव चीयते चितं हि रूतं जगदेतदीच्यते ॥
नाभेः कुतश्चित् परितोऽमृतात्मना त्रैलोक्यसीमान्तचितः स ईश्वरः ।
स चीयतेऽसावमृतं चिनोति वा तस्मान्चिदात्मा प्रथितः स ईश्वरः ॥
परः सहस्रा अयमेक ईश्वरो धत्ते त्रिलोकीश्च तथान्य ईश्वराः ॥
नाभिर्य एषामभयं तदास्पदं तदुस्थितं चामृतमिष्टकाचितेः ।
तत्रामृतं स्यात्त्रिविधं सदायुक् प्राणो मनो वाक् त्रिभिरेव चीयते ॥
मध्ये त्रिलोक्या इव तेजनात्मा स व्यान आत्मास्ति शरीरमध्ये ।
तेनैव बन्धादिह सन्ति देवा भूतैः शरीरे सह संगृहीताः ॥
स वामनो वा सहि वामनीर्वा स भामनोस्तं ह्यनु विश्वदेवाः ।
प्राणं स वा ऊर्ध्वमुन्नयतीम स प्रत्यगस्त्यधरं त्वपानम् ॥

प्राणः स एकोऽपि विभिज्य पञ्चधा रूपं विधत्ते प्रथमं त्रिलोकतः ।
रूपत्रयं स्वं कुरुते प्रधानतो दिव्यं च भौमं च तयोश्च मध्यमम् ॥
दिव्यं द्विधा भौममपि द्विधा भवेद्यायाति हृद्ये प्रतियाति हृद्यतः ।
यन्मध्यमं तत्र तयोर्विधारकं स व्यान इन्द्रः प्रवरः स पञ्चसु ॥
नापानतः प्राणत एव वैते जीवन्ति जीवा अपि तु ब्रवीमि ।
व्यानेन जीवन्ति हि सर्वजीवाः प्राणोऽप्यपानोऽपि तमाश्रयेते ॥
प्राणद्वयं तत्र परस्परेणोपमर्द्य सोऽग्निं सृजतीह देहे ।
संक्रास्य तेजोद्वयमत्र तत्र प्रज्ञां प्रतिष्ठापयतेऽत्र भूते ॥
उपासते व्यानमशेषदेवा हृद्यस्य निष्ठा हृदयस्य तस्य ।
पञ्चैव देवाः सुषयो भवन्ति तेभ्योऽन्नमश्नन्ति हि पञ्च देवाः ॥
स प्राङ्सुषिश्चक्षुरिहादितेयः श्रोत्रं सुषिर्दक्षिण एष चन्द्रः ।
प्रत्यङ्सुषिर्वागयमग्निरुक्तो मनस्तु पर्जन्य उदङ्सुषि स्यात् ॥
ऊर्ध्वः सुषिर्व्योम स वायुरित्थं पञ्चाप्यमी ब्राह्मणपूरुषाः स्युः ।
स्वर्गस्य लोकस्य हि सर्व एते स्युर्द्वारपा इत्थमुवाच ताण्ड्यः ॥

इन्द्र आत्मा ।

प्राणस्य वाचो मनसः समन्वयाद् रूपं यदत्रामृतमेकमिष्यते ।
स प्राण एव प्रतिपद्यते यतः प्राणेऽर्पिते वाङ्मनसे क्रियावती ॥
प्राणोऽमृतं तत्कृत एष सूर्य्यः प्राणः प्रजानामयमस्ति सूर्य्यः ।
विधारकः प्राण इतः स एवावष्टभ्य संधारयतीह सर्वम् ॥
संसृज्य रूपद्वयमेष धत्ते स वायुनाऽन्यत्तु स सोमतोऽन्यत् ।
तौ वायुसोमौ पृथगान्तरीक्ष्यौ वायुश्चरः स्वच्छतमस्तु सोमः ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा स भवत्यमुष्मिन् सोमे तु सौरः प्रतिबिम्बितो यः ।
यो वायुनाश्लिष्टतमः स इन्द्रो मुख्यः स हि प्राण इहास्ति देहे ॥
यदिन्द्रसृष्टं यदि हेन्द्रदृष्टं यदिन्द्रजुष्टं यदिहेन्द्रलिङ्गम् ।
यदिन्द्रदत्तं विदुरिन्द्रियं तद् नेन्द्राहते धाम तदस्ति किञ्चित् ॥
सोमो यतः स्वच्छतमस्ततोऽस्मिन् प्राणाहितं तन्मन आविरस्ति ।
कृत्वा पुनर्व्यूहमयं स्वतन्त्रं प्राणप्रकाशाय मनो नियुङ्क्ते ॥
तमेव विज्ञानमयं वदामः क्षेत्रज्ञमत्मानमयं नियम्य ।
प्रज्ञात्मनि त्वेव विभाति सौम्ये नान्यत्र सोमात् क्वचिदेव भाति ॥
वायु तु भूत्वेन्द्रतुरीय एव स्वतश्चरोऽपीन्द्रविधारितः सन् ।
स्थिरत्वमायाति तथा हि देहे व्यानोऽयमात्माऽस्ति शरीरधर्ता ॥

इति सूत्रात्मा ।

आत्मपरिच्छेदे पञ्चात्मसंस्था २

—:❀:—

आत्मपञ्चके शारीरकशब्दः ।

आत्मोच्यते वाजसनेयकश्रुतौ स वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः ।
मनःपदेनात्र मतेः परिग्रहादानन्दविज्ञानमयो भृगुश्रुतौ ॥
मनस्त्रयं दिव्यमथान्तरीक्ष्यः प्राणोऽथ वाक् पार्थिवदेवतेयम् ।
रसत्रयं वा रसपञ्चकं वा सहान्वितं स्यादयमेक आत्मा ॥

१
पञ्चात्मभेदास्त इमे पृथग्विधा नामानि तेषामपि योनयः पृथक् ।
कर्म्माणि भिन्नान्यथ पञ्चभिस्तु तैः संयुग्भिरेषोऽस्ति शरीरभाग्नरः ॥
२
भूतात्मसंज्ञस्त्विह यावदन्नं प्राणोऽन्तरीक्ष्यस्त्विह सूत्रमात्मा ।
४
आत्मा महांश्चान्द्ररसो मनो यत् क्षेत्रज्ञ आदित्यरसः परा धीः ॥
लोकत्रयातीतमनुत्तमं यज्ज्योतिः स आनन्दमयः परात्मा ।
पञ्चात्मभेदा इतरेतरेणानुसंहिता अत्र वसन्ति देहे ॥

१ २ ३ ४ ५

परात्मा-क्षेत्रज्ञात्मा-महानात्मा-सूत्रात्मा-भूतात्मा ।

य एष आनन्दमयः स भूमा सत्यस्य सत्योऽथ परोरजाश्च ।
सत्यस्तु विज्ञानमयः स उक्तः क्षेत्रज्ञ एवं स महाजनश्च ॥
सर्वेश्वरोऽन्नाद् वसुदान एषोऽजरोऽमरः सोस्त्यमृतोऽभयश्च ।
देवैः समेतैः कृतरूप इन्द्रः प्राणः स मुख्यो हृदि सन्निविष्टः ॥

वाक्	प्राण	मनः		
१	२	३	४	५
अन्नमयः	प्राणमयः	मनोमयः	विज्ञानमयः	आनन्दमयः
भूतात्मा	सूत्रात्मा	महान् (गी.१४)	क्षेत्रज्ञः (गी.१३)	परात्मा
पार्थिव	आन्तरीक्ष्यः	दिव्यः		लोकातीतः
क्षरः	अक्षरः गीता म॥१५॥१६			परः

मनोमयो योऽस्ति महान् स षोडशी सत्त्वं रजस्तत्र तमस्त्रयो गुणाः ।
ज्ञानेन्द्रियाण्यत्र च योनयोऽखिला अहंकृतिः सा प्रकृतिश्च साऽऽकृतिः॥
महानयं यद्यपि पारमेष्ठ्यतः संपद्यते सूर्य्यत उत्तरोऽस्त्ययम् ।
तथाप्ययं चन्द्रमसेह नीयते विज्ञानतोऽर्वाक् तत इष्यते मनः ॥

"अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥" (मनुः)

कृत्स्नं शरीरं सह धीन्द्रियाणि प्रज्ञाधितिष्ठत्यनुषज्जतेऽस्याम् ।
प्राणः स मुख्यस्तमनुध्रियन्ते प्राणश्च कर्म्माणि यतो भवन्ति ॥

पञ्चात्मसंस्था ।

स वामनस्तेजनमस्ति सूत्रं त्रिभ्योऽन्तरीत्तेभ्य उदैत समं तत् ।
सूत्रं द्विधाऽऽगाद् ऋतसत्यभेदात् स्तब्धं च संदब्धमशेषमाभ्याम् ॥
येषां शरीराणि न सन्ति येषां हृन्नास्ति तेऽमी ऋतशब्दभाजः ।
सत्यानि हृद्युञ्जि शरीरवन्ति ऋतानि सत्यानि सितानि ताभ्याम्॥
भूतात्मसंज्ञस्तु हिरण्मयोऽपरः पृथ्वीरसः सोऽन्नरसानुसंहितः ।
चित्याग्निजं बाह्यशरीरमान्तरस्त्रिधा निवेशैस्त्रिभिरग्निभिः कृतः ॥

"इन्द्रो वायुरथाग्निः सन्ति पृथिव्यां रथन्तरे साम्नि ।
चित्याग्निजं शरीरं त्वस्यामेवोपपद्यते पृथ्व्याम् ॥"

इरा भवेदन्नरसः स भूमितो धृतः शरीरं न दिवं प्रयात्यतः ।
इरामयं नाम हिरण्मयं विदुः स तैजसप्राज्ञवशाद्दिवं चरेत् ॥
शरीरवैश्वानरतैजसज्ञैर्हिरण्मयः सोऽन्नमयः कृतात्मा ।
वैश्वानरः प्राणमयोऽपि यज्ञात्मकोऽस्ति नान्नेन विनास्य यज्ञः ॥
अग्नित्रयं तावदिदं द्विधाऽन्वाभक्तं शरीरेऽत्र चिते स हंसः ।
दिवं न यात्येष वपुष्यदग्धे दग्धेऽपि पृथ्व्यां चरतीह वायौ ॥
अग्नित्रयं यत्तु महत्यपीतं चन्द्रे स्थितः स्यान्महतः स आत्मा ।
महांस्तनोऽग्नित्रयतः स चन्द्रे सर्वेन्द्रियो जीवति वेत्ति भुङ्क्ते ॥
वपुर्नवं कर्म्मकलापक्लृप्तं संपद्यते तत् खलु भूतसूक्ष्मैः ।
प्राणेन्द्रियैर्देवमयैः स प्रज्ञाप्राणैश्च विद्यान्वितकर्मणा च ॥
अग्नित्रयं कर्म्म वपुष्युपेतं कर्म्मात्मनाम्ना स हि भौतिकात्मा ।
कर्म्माणि भोक्तं विविधान् स लोकान् कर्मानुसारात् क्रमतेऽस्वतन्त्रः॥

आत्मत्रये जीवशब्दः ।

सूत्रं परं चाव्यभिचारि नित्यं सर्वत्र लभ्यं स्वत एव तस्मात् ।
त्रीनात्मनः कोऽपि विदुर्विशेषात् क्षेत्रज्ञभूतात्ममहत्समाख्यात् ॥
यो भौतिको यश्च महानथो यः क्षेत्रज्ञ आत्मा त इमे त्रयोऽपि ।
जीवात्मना स्नेहगताः प्रसिद्धं ते देहिनो देहनिवाहकत्वात् ॥
क्षेत्रज्ञ आप्नोति रसं दिनेशाच्चन्द्रान्महान् भौतिक एष भूमेः ।
क्षेत्रज्ञ उत्क्रम्य रविं प्रयायाच्चन्द्रं महान् कर्मगतिं ततोऽन्यः ॥

अव्ययाक्षरक्षरैस्त्रिधातुरात्मा ।

अथ प्रकारान्तरमात्मविद्या आत्मप्रकाशाय परे वदन्ति ।
त्रिधात्मक्लृप्तिर्जगतः स्वरूपं तत्रैव सर्वं स्थितमेतदस्ति ॥
आत्मैक एव त्रिभिरात्मभिर्वा व्यादिश्यते पञ्चदशात्मभिर्वा ।
क्षरोऽक्षरोऽन्यः पुरुषोत्तमोऽन्यः त्रयोऽप्यमी पञ्चकला विभक्ताः ॥
आनन्दविज्ञानमनांसि प्राणो वाग् वै कलाः स्युः पुरुषोत्तमस्य ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णू अथ वह्निसोमौ पञ्चाक्षरः पञ्च पुनः क्षरास्ते ॥
क्षरोऽवरस्तत्र परावरः सोऽक्षरः परोऽयं पुरुषोत्तमोऽस्ति ।
क्षरं तु कर्म्माख्यमिहास्ति कार्यं यत्कारणं तन्मतमक्षरं तत् ॥
न यत्तु कार्य्यं न च कारणं वा कर्मातिगं तत् परमाहुरार्य्याः ।
आत्मान एते त्रय एक आत्मा तत्र त्रिधाऽपि व्यपदेशयोगः ॥
क्षरं तु विश्वं जगदस्त्यवारं परं तु विश्वातिगतं हि पारम् ।
पारादवारं तत एति पारं यतः स सेतुर्मतमक्षरं तत् ॥
भूमा सूत्रं सत्यमित्थं परात्माऽथेन्द्रः क्षेत्रज्ञो महानक्षरात्मा ।
प्राज्ञस्तैजस्योऽथ वैश्वानरो वा भूतात्मा स्यादित्थमात्मान ऊह्याः ॥
इत्थं तदात्मप्रतिपत्तिभेदेऽप्यात्मार्थरूपे न विभिन्नतास्ति ।
क्रमेण तानत्र विवेचयामो यथास्वरूपं च यथोपयोगम् ॥

परात्मा-अव्ययात्मा । शान्तः (भूमा-सूत्रं-सत्यम्)

परो दिवो ज्योतिरनुत्तमं यद् विश्वस्य पृष्ठेषु विभाति किञ्चित् ।
ज्योतिस्तदन्तः पुरुषे प्रतीयाद् देहोष्णिमानाहतनादमूलम् ॥

चन्द्रो यथेमां परितस्तथेमाः सूर्यं पृथिव्याः परितो भ्रमन्ति ।
सूर्यास्तथा चिन्मयदेवमेतं परं प्रतीमः पुरुषोत्तमं तम् ॥

यस्मादर्वाक् संवत्सरो अहोभिः परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ (बृ० अ० ४)

शान्तं समृद्धं तदिति प्रभेदात् द्वैविध्यमेतस्य परस्य मन्ये ।
शान्तं प्रसन्नं तदिहैकरूपं दिग्देशकालातिगतः स भूमा ॥
प्राणस्य तद्वन्मनसोऽधिकत्वे विलीयते प्राण इतोऽस्ति शान्तिः ।
वाक्प्राणवैशेष्यवशात् समृद्धिः प्राणो हि वाचं विविधां करोति ॥
विद्यातिशेते यदि तर्हि शान्तिः संपद्यते तामिह मुक्तिमाहुः ।
कर्म्मातिशय्यात्तु भवेत्समृद्धिः कर्मानुसारादशुभा शुभा वा ॥
यदस्ति शान्तं परमं च धाम तत् परास्ति काष्ठा परमा गतिश्च सा ।
नश्यन्ति कर्म्माणि हि यस्य कृत्स्नशः सोऽकर्म भूत्वात्र गतो विमुच्यते ॥
यदस्ति शान्तं नच तत्र कर्म्माण्यतो न तल्लक्षणमस्ति किञ्चित ।
यत्रोल्बणं कर्म्म समृद्धमेतत् तदुत्तरत्रेह विवेचयामि ॥

परात्मा अव्ययात्मा समृद्धः ।

सृष्ट–प्रविष्टाभ्यां द्विविधं समृद्धम् ।

समृद्धमन्यद् द्विविधं प्रतीयाद् यदस्ति सृष्टं यदिह प्रविष्टम् ।
यत्सूर्य्यचन्द्रक्षितिविद्युदुल्काद्यनेकरूपं तदिहास्ति सृष्टम् ॥
सृष्ट्वा तु तत्तत्पुनरेव तस्मिन्ननुप्रविष्टं तदिह द्वितीयम् ।
एकेन रूपेण च नाम भिन्नं भिन्नानि कर्म्माणि दधाति तेषु ॥
काचो यदा सूर्य्यमुखो धृतः स्यात् सूर्य्याभिमुख्येन तदास्य पृष्ठे ।
समन्तवक्रांशुचयैः प्रसृष्टः स्यादंशुनाभिःक्वचिदेकबिन्दुः ॥
तत्रास्ति दाह्यं यदि तत्क्षणेनाग्निरूपमुत्पद्यत इत्यवेक्षे ।
तत्राग्निरूपे ध्रियते प्रकाशस्तस्यैव सूर्य्यस्य तथेह विद्यात ॥

२–भूमान्तर्यामी सत्यः सूत्रात्मा चायमव्ययः ।

सूत्रं च भूमा च स एव सत्योऽन्तर्यामिनामा विभुरेक आत्मा ।
इत्थं परोऽयं परमेश्वरात्मा व्याख्यायतेऽस्मात्तु परं न किञ्चित् ॥

यस्तु त्रिलोकीमभिमन्यते स हीश्वरोऽस्ति तत्रापि समस्तवस्तुगः ।
सत्यात्मनान्तर्यमयत् तदीड्यते तदीश्वरस्येश्वरतानिवाहकम् ॥
सृष्टं तु सर्वं प्रतिवेद्मि मर्त्यं सृष्टे प्रविष्टं त्वमृतं वदामि ।
सृष्टस्य मर्त्यस्य परं तदायुर्विनाऽमृतं मर्त्यमिदं न तिष्ठेत् ॥
यज्ज्योतिषां ज्योतिरिदं तदायुर्यावत्तु चैतन्यमहं च तावत् ।
तदेव सत्यं प्रतिवस्तु दृष्टं न यत्र सत्यं न तदस्ति किञ्चित् ॥
तत् सत्यमाहुस्तदिदं हि सत्यं सर्वत्र दृष्टं तत एव चापः ।
यन्त्यत्र निम्नं तपतीह सूर्य्यो ज्वलित्यथाग्निः पवते च वायुः ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

सत्यस्य रूपेण हि सोऽव्ययात्माऽन्वाविश्य लोकत्रयमाबिभर्ति ।
क्षरानतीतोऽक्षरतश्च यस्मात् स उत्तमस्तत्पुरुषोत्तमोऽयम् ॥
शान्तं यतस्तेन स एक ईश्वरो यतः समृद्धं तदिहास्ति संततम् ।
प्रतिक्षणान्यन्यकला विजृम्भणं तेनायमानन्दमयः सदेश्वरः ॥
यदस्ति शान्तं यदि वा समृद्धमतः स आनन्द इति द्विधापि ।
शान्तिः प्रसादः परमा तु मात्राऽऽनन्दस्य तत्कोश इयं समृद्धिः ॥
धनादि किञ्चिल्लभते तदानीमात्मास्य भूमानमुपैति तेन ।
भूम्नः समृद्धेरनुभूय मोदानात्माचिरं शान्तिसुखाकृतिः स्यात् ॥
अध्यात्ममप्येष सदाऽनुवर्तते सत्यात्मनान्तर्यमयन् यथायथम् ।
विज्ञानमस्त्यक्षरगं क्षरे पुनः प्रज्ञानमेतद्द्वयुभयं परांशतः ॥

चतुष्पर्वा चेतना ।

या चेतना ज्ञानमिदं चतुर्धा शान्तं च बुद्धं च मतं च भूतम् ।
शान्तं तु यन्निर्विषयं स्वतन्त्रं बुद्धं चिदाभासमहं वदामि ॥
बुद्धं हि रूपं विषयाधिरूढं न सृज्यते तद्विषयैरसङ्गि ।
यथा जलस्थः प्रतिबिम्ब एषोऽक्लेद्योऽप्यशोष्योऽपि न हस्तनेयः ॥
यथा जलं दर्पणमन्यदच्छं बिम्बग्रहाय प्रभवेत् समर्थम् ।
तथा चिदाभाससमर्थमत्र प्रज्ञानमेतन्मन इत्यवैमि ॥
प्रज्ञानमेतद् द्विविधं विशुद्धं सत्त्वात्मकं त्वक्षरगं प्रतीयात् ।
रजस्तमोभ्यां कलुषं तदेव प्रज्ञानमस्ति क्षरगं विचालि ॥

प्रज्ञानयुक्तस्तु ततो गृहीत्वा परं रसं भूतगणः शरीरे ।
यच्छोणितस्नायुवसास्थिरूपं गृह्णाति तद्भूतमयं चतुर्थम् ॥

संकलिताख्यानम् ।

शान्तं सुषुप्ताविव निर्विकल्पं विज्ञानमाकाशमिवास्ति कृष्णम् ।
समृद्धमाद्यं विषयावगाहि ज्ञानं तु कर्म्मान्वितमस्ति शुक्लम् ॥
शान्तं स्वरूपेण यदस्ति कर्म्मास्पृष्टं तदानन्दमयं वदामः ।
विज्ञाननाम्नैव रविप्रभेन्द्रप्राणान्वितां तां चितमाहुरार्य्याः ॥
समृद्धमेतद् द्विविधं यदेकं विज्ञानमुक्तं रविसन्निविष्टम् ।
तदेव सौम्येन रसेन भिन्नं मनःपदेन प्रथितं द्वितीयम् ॥
शान्तौ य आनन्द उदेति सोऽन्यो भूम्ना समृद्धौ य उदेति सोऽन्यः ।
सर्वं तु मायाकृतमल्पमार्तं सन्यः सुखायात्र यदैति भूमा ॥
ब्रह्मेदमानन्दमयं पुरस्तादाधीयते सौररसेऽथ चान्द्रे ।
अवृक्णमूलेऽपि च वृक्णमूले सा तच्चितिस्तेन चितं वदन्ति ॥
तच्चीयते ब्रह्मतपःप्रभावात् प्राणक्रियामाह तपोऽग्निरूपाम् ।
प्राणं मनश्चेतयते तदिच्छा प्राणप्रयोक्त्री खलु चेतनोक्ता ॥
आनन्दविज्ञानमनःप्रभेदात् त्रिधा विभक्ता चिदयं प्रकाशः ।
सर्वप्रकाशप्रभवो विशेषात् तथाहि पश्यन्ति महर्षयः स्म ॥
"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥"
(उपनिषद्)
"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"
(गीता० अ० २)

सन्त्यान्तर्यामी ।

प्रज्ञानदृष्टं तु यदस्य रूपं तदेव विज्ञानमिति प्रसिद्धम् ।
प्रकाशितं तेन विभाति सर्वं तद् भूतभृत्प्राणनियोजकं च ॥
मनोमयः प्राणवनोऽयमन्तर्यामीति तत्सत्यमिति प्रसिद्धम् ।
सेदं प्रकाशाय जगन्ति सर्वान् सृष्ट्वा प्रविष्टं भवतीह विभ्रत् ॥

सत्ता च शक्तिश्च तदेव भूतं चेति त्रिधैतत् प्रथितं समृद्धम् ।
शान्तं स्वरूपेण यदस्ति कर्म्मास्पृष्टं तदानन्दमयं पृथग्वत् ॥
सत्ता हि सामान्यमतोऽस्ति बुद्धिस्तामेकवत्सर्वगतां प्रतीमः ।
प्रत्यर्थभिन्ना त्वियमस्ति शक्तिस्तेऽर्था पुनर्भूतपदेन सिद्धाः ॥
भूतानि सृष्ट्वा तदनु प्रविष्टा शक्तिर्विशेषेण करोति रूपम् ।
कर्म्माणि रूपाणि च नामभेदा यतोऽभवन् शक्तिरियं निरुक्ता ॥
सत्ता तु सर्वाण्यविशेषतः सा धत्ते ह्यदः कर्म्मगतं त्रिसत्यम् ।
प्रदर्शितं सत्यमिदं पुरस्ताल्लोकत्रयं सत्यमधिष्ठितं स्यात् ॥

मौलिकप्राणानामृषित्वम् ।

प्राणस्य वाचो मनसः समन्वयाद् रूपं यदज्ञाऽमृतमेकमिष्यते ।
देवासुरा वा पितरो यतोऽभवन् लोकातिगं तं तु रसं वदन्त्यृषिम् ॥
यो जायते कांश्चिदृषीन् स दिव्यानात्मन्युपादय स जीवतीह ।
ऋषिः ह्यृषिभ्यः स ततोऽथ कुर्वन् स ब्रह्मचर्यं तपसाऽनृणी स्यात ॥
प्राणा विशुद्धा ऋषयः प्रसिद्धाः प्रज्ञावलं चेति विदुर्द्विधैतान् ।
विद्याव्रतोत्थैः खमभिस्पृशद्भिः प्राणैः स आनृण्यमुपैति तेभ्यः ॥

सत्यात्मा ।

प्राणोऽग्निरूपो रस एष सौरः संसृज्यते सोमरसेन यावत ।
विज्ञानमस्तीदमथो परेण संसृज्य सत्याख्यमुदेति रूपम् ॥
अन्तःस्थितं सत्यमिदं नियन्तृ स्वतन्त्रवत् सर्वमिदं प्रशास्ति ।
प्रत्यर्थमन्यान्यविधं तदन्तर्य्यामि स्वतस्त्वेकविधं तदस्ति ॥
अन्तर्नियच्छत्यखिलं ततोन्तर्य्यामी नियन्तेत्यभिधीयते सः ।
सा वस्तुशक्तिर्नियतिस्तयैव प्रत्यर्थ-कर्म्माणि भवन्ति भेदात् ॥
एकत्र रेतो रुधिरात्तरूपे द्रप्से रसाः सन्ति समाः समन्तात् ।
चक्षुस्ततः प्रोत्थितमेति नाड्यौ स्वस्थानमेवैति तदस्ति सत्यम ॥
मृगस्य शृंगे प्रतिवर्षभुग्ने विरुद्धदिक् तुल्य नते भवेताम् ।
तादृक् स्वकर्तव्यमिमे न वित्तोऽन्तर्यामिणा त्वेव तथा कृतेस्तः ॥
जाते बदर्य्याः सह कण्टके द्वे समानदेशात् रसतः समानात् ।
तत्रैकमृज्वन्यदरालमन्तर्य्यामी करोत्येवमिवान्यदूह्यम् ॥

क्षेत्रज्ञात्मा ।

सत्योऽयमात्मा प्रथमः पुरोक्तः क्षेत्रज्ञमात्मानमतो वदामि ।
स भूतभृत् किन्तु न भूतसक्तः कर्म्माणि कुर्वन्नपि नैव लिप्तः ॥
विज्ञानमादित्यरसोऽस्ति सर्वे देवा य इन्द्रानुगताः समं तैः ।
क्षेत्रज्ञ उक्तः पुरुषः स सांख्ये महांश्च तस्य प्रकृतिर्गुणाख्या ॥
क्षेत्रज्ञ आत्माऽस्ति यथा शरीरे यथा च तस्य प्रकृतेर्विकाराः ।
तथा समग्रं कपिलर्षिरूचे विद्याच्च तत् पञ्चशिखादिवाग्भिः ॥
क्षेत्रज्ञरूपं निजगाद शाकायन्यो महर्षिर्मरुते नृपाय ।
इक्ष्वाकुवंश्याय बृहद्रथाय मैत्रिश्रुतौ तत्पठितं प्रविद्यात् ॥

अक्षरात्मा ।

चान्द्रे रसे सोममये परिज्वलन् सौरो रसश्चाग्निमयः प्रतिष्ठितः ।
सौरे रसे प्राणमये परो रसः प्रतिष्ठितश्चिन्मय एव सोऽक्षरः ॥
सर्वात्मना त्वेकविधस्तमेव त्रिधा विभक्तं प्रतिपादयामि ।
÷क्षेत्रज्ञ आत्मा च महानथाऽन्तर्य्यामीत्यतः सर्वमिदं प्रजज्ञे ॥
प्रत्येकपर्य्याप्तमिहाक्षरत्वं व्यासज्यवृत्त्याऽक्षरतोऽथवैषाम् ।
एकैकधानासु पृथग् यवत्वं राशौ यवानां च यवत्वमाहुः ॥
श्वेताश्ववत् काठकमुण्डकादौ तमक्षरं चैकतया ब्रुवद्भिः ।
क्षेत्रज्ञधर्म्मा महतश्च धर्म्माः संकीर्णभावेन भवन्त्यनूक्ताः ॥
×क्षेत्रज्ञ एवं स महानितीमे द्वे अक्षरे सत्यपरे प्रतीमः ।
द्वयोः पृथग्वद् द्विविधत्वमूह्यं मृत्युर्बहिर्धाऽन्तरतोऽमृतं च ॥
क्षेत्रज्ञनिष्ठे त्वमृतं च मृत्युर्विद्येत्यविद्येति पृथक् प्रसिद्धे ।
❀एवं महत्यप्यमृतं च मृत्युं संभूतिमाहुश्च तथा विनाशम् ॥
सत्यं यदस्मिन्नुभयं तदीष्टे सत्येन मृत्युं क्रमतेऽमृतंच ।
संसारबन्धो भवतीह मृत्योर्विमुच्य सत्यं श्रयतेऽमृतेन ॥
सहोभयं नित्यमुदेति तस्मिन् कर्म्मास्थितो मृत्युमुपाश्रितः स्यात् ।
स कर्म्मणा कामवशेन लिप्तो बद्धश्च संसारमुपैति भूयः ॥

÷'क्षेत्रज्ञमिन्द्रं च महान्तमित्थं त्रिधाऽक्षरं कारणमाहुरस्य'। इति वा पाठः।

+'क्षेत्रज्ञ इन्द्रो रवितेजसौ ते' इति वा पाठः।

❀'तथैव संभूतिमथो विनाशं मन्येऽमृतं मृत्युमपीन्द्रनिष्ठे'। इति वा पाठः।

विविच्य तीर्त्वा यदि मृत्युमेषोऽमृतं तयोराश्रयते स नूनम् ।
तदाश्रयात् सत्यमुपैति सत्यं भूत्वा स ईष्टेऽप्यमृतानि मृत्यून् ॥
क्षेत्रज्ञवर्गान्महतश्च सर्वानीष्टे स सर्वत्र गतोऽस्ति सर्वः ।
क्षेत्रज्ञ यावद्गतमेष गच्छेत् यावद्गतं वा महतोऽभ्युपेयात् ॥
अथो महानत्र तृतीय आत्मा स तेजसश्चन्द्रमसः प्रवृत्तः ।
साहंकृतिश्चाकृतिरत्र मृत्युस्तत्रामृतं स्यात् प्रकृतिश्च वृत्तिः ॥
सर्वाश्रयोनीरधितिष्ठतीमा महानयं यं कपिलर्षिरूचे ।
तत्राधिपत्यं कुरुते महात्मा क्षेत्रज्ञ ईशः परितो विभास्वान् ॥
महद्गुणैस्तैरवशस्तु योऽयं विचाल्यते दुःखसुखानि भुङ्क्ते ।
दुःखी सुखी चेत्यभिमन्यते यो भूतात्मसंज्ञः पृथगेष आत्मा ॥
अङ्गुष्ठमात्रः स हि जीव उक्तो य एष संसारमुपैति भूयः ।
क्षरः स यद्यक्षरमेष विद्यात् सेतुं तदायाति स शोकपारम् ॥
तमेतमर्थं परमार्थविद्वानृषिः स शुभ्राश्वतराभिधानः ।
श्लोकैरुवाचोपनिषद्यमी ते श्लोकाः प्रदर्श्यन्त इहापि केचिद् ॥
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः ।
ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥
एकैकजालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संचरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्चतिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजयते यदनड्वान ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥
तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥
गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
सविश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंवृणोति ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥

एष त्रिमूर्तिर्भगवान्पृथिव्याः परोऽवरस्त्वव्ययतोऽभयाख्यात् ।
त्रैलोक्यपारस्थविकाशिधाम्नः परावरं तेन तमाहुरार्याः ॥

(श्वेताश्वतरे)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डके)

यद्वै परज्योतिषि वर्त्ततेऽमृतं तदक्षरं प्राप्य ततः क्रमादिह ।
पृथ्व्यां च भूतात्मनि सर्पति क्षरेऽमृतस्य सेतु विदुरक्षरं ततः ॥
प्राज्ञोयमात्मापि ततोऽमृतात्परादुदेति संसृज्यत एव पाप्मभिः ।
तमेव सोप्यक्षरमाप्य सेतुवत् त्रैलोक्यपारे पुनरेति चामृतम् ॥
यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥
यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्यभावा प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथासतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥

भूतात्मनीश्वरः क्षेत्रज्ञः ।

येषां नु भूतात्मनि जीवसंज्ञा क्षेत्रज्ञमेतं विदुरीश्वरं ते ।
हृत्स्थः परिभ्रामयते स यन्त्रारूढानि भूतान्यखिलानि मायी ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मैष महाजनाभिधः प्राणेषु विज्ञानमयोऽखिलेश्वरः ।
वशी हृदन्तर्दहराम्बराशये शेतेऽस्य योनिः शिरसि प्रतीयते ॥
शिरोऽस्य योनिर्हृदयं प्रतिष्ठा मनोमयाकाश इहाशयोऽस्य ।
यत्किञ्च मे भाति धियश्च या मे क्षेत्रज्ञतस्ता अपि तच्च विद्यात् ॥

महति चिदाभासः क्षेत्रज्ञः ।

चिदात्मपूर्णो रविरश्मिरस्मिन् महत्युदेत्येष महांस्तु सौम्यः ।
भूतानुषक्तो हृदि सन्निविष्टः प्रद्योततेऽयं रविरश्मितोऽर्द्धः ॥
तस्मिन्महत्येष विभासमानो यः सर्वतो दिक्षु तनोति रश्मीन् ।
प्राणास्ततः सम्प्रचरन्ति देहे चिदन्वितास्तत्प्रभवोऽयमात्मा ॥

इन्द्रश्चाक्षुषपुरुषः क्षेत्रज्ञः ।

य एष आदित्यगतोऽस्ति दिव्यः स एव चाहं पुरुषोऽस्मि हृद्यः ।
यो लक्ष्यते त्वक्षणि दक्षिणे द्राक् क्षेत्रज्ञमात्मानमिमं प्रतीयात् ॥
अक्षिणि द्विधायं पुरुषोऽस्ति जातु यो वक्षेक्षिणि बिम्बः प्रतिभाति चक्रवत् ।
प्राज्ञः स कल्प्योऽथ य एष विश्वतोऽवभासकोऽर्कानुगृहीत एष सः ॥
यो दक्षिणेऽस्त्यक्षणि पूरुषस्तं विद्धीन्द्रमेतस्य विराट् तु पत्नी ।
वामेक्षिणीन्द्रप्रतिरूपमेतौ हृद्यन्तरव्योमनि संस्तुतौ स्तः ॥
तयोः सृतिः संचरणी तु सैषा नाडी हिताख्या हृदयप्रदेशात् ।
ऊर्ध्वोच्चरन्ती हृदयप्रतिष्ठा सहस्रधा भिन्नकचाणुरूपा ॥
ये सप्त वर्णा रविरश्मयः खे ते सप्तवर्णा रविरश्मयोऽन्तः ।
समन्ततोऽस्माद् हृदयस्थसूर्यान्नाड्योहितानामहिताः क्रमन्ते ॥
शुक्लस्य नीलस्य च पिङ्गलस्य ता रक्तस्य पूर्णा हरितस्य नाडिकाः ।
केशो यथा भिन्नतमः सहस्रधा तिष्ठन्त्यणिम्ना तु हिताहितास्तथा ॥
शतं चैकाश्च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥
(छा०उ०८।६।)

महापथो यद्वदितस्ततोऽनुयात्युभे नगर्यौ रविरश्मयस्तथा ।
इमं च लोकं परियन्त्यमुं च ते विशन्ति तत्रात्मनि भास्करेऽपि च ॥
प्रतायमानास्तु रवेरमुष्मादास्वेव नाडीषु भवन्ति सृप्ताः ।
प्रतायमानां पुनराभ्य एतेऽमुष्मिन् रवौ च प्रभवन्ति सृप्ताः ।
यदायमुत्क्रामति देहतोऽस्मात् सार्धं स तैं रश्मिभिरूर्ध्वमेति ॥
क्षिप्येन्मनो यावदुपैति तावत् सूर्यं सविद्यः खलु न त्वविद्यः ।
तदास्रवद्यास्रवतीह ताभिः शारीरकादात्मन एष आत्मा ॥
विविक्तमाहारयतेऽस्य सर्वे प्राणाः समन्तात् प्रसरन्ति दिक्षु ॥
मनस्तु यावत्प्रमितं स आत्मा तन्मध्यतः सर्वदिशं प्रसृप्ताः ।
प्राणाः समन्तादध ऊर्ध्वमन्या दिशश्च नाडीषु हितासु सन्ति ॥
स प्राग्वाक् प्रत्यगुदक् च पृष्ठे पुरोऽध ऊर्ध्वं परितः स्वरश्मीन् ।
प्रताय चालोमनखाग्रदेशान् विभर्त्ति संधाय शरीरयष्टिम् ॥

सर्वदेवमयः क्षेत्रज्ञः ।

तदाश्रिता अग्निमयाः शरीरे देवास्त्रयस्त्रिंशदुपाहिताः स्युः ।
तेषां च संस्थामिह यज्ञमाहुर्यज्ञेन जीवन्त्यपि चेष्टयन्ते ॥
तत्राग्निपूर्वा वसवोऽथ रुद्राः स्युर्वायुपूर्वा अथ चादितेयाः ।
स्युरिन्द्रपूर्वा इति केचिदाहुः परं मतं ते वरुणादयः स्युः ॥
चन्द्रो दिगात्मा च विभास्वरात्मा बृहस्पतिः श्रेष्ठकवैश्वदेव्यम् ।
भूतानि चापः प्रथमान्युषाश्चेत्येवं कृतो दैवतसंग्रहोऽस्मिन् ॥
ते पञ्च देवा अथवाष्टदेवाः सर्वं शरीरं परिचालयन्ते ।
क्षेत्रज्ञनिष्ठा अपि सूत्रबन्धादिवं च यन्तो न तनुं त्यजन्ति ॥

प्रकारान्तरेण सर्वदेवमयः क्षेत्रज्ञः ।

पश्यन्ति देवोद्भवमित्थमेके क्षेत्रज्ञ एषोऽस्ति रविः शरीरे ।
रवेरिवेतो महिमा समान्तादुज्जृम्भते यत्र वसन्ति देवाः ॥
प्रजापतेः स्वो महिमा स्त वाङ्मयः प्राणं मनो न व्यतिरिच्य वावियम् ।
स वाङ्मयःप्राणमयो मनोमयश्छन्दोमयो देवमयश्च भाव्यताम् ॥
रवेर्बहिःस्थस्य तथाविधो यः प्रवर्ततेऽयं महिमा समन्तात् ।
तत्रैव पृथ्वी परितश्चरन्त चन्द्रं गृहीत्वा परितोऽनुयाति ॥

+यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिण्यवसीयतेऽसौ । (बृ० आ० ६।४)
इन्द्राग्निरूपास्त्विह सर्वदेवा द्यावापृथिव्योर्निहिता महिम्नोः ॥
अग्नौ तथेन्द्रे च यदेष चन्द्रः स्वतारतम्यात् कुरुते विशेषम् ।
ततस्तु देवाः प्रभवन्ति भिन्ना नेन्द्राग्नितस्ते व्यतिरिच्य क्लृप्ताः ॥ (कौ० ब्रा० १२।६)
सूर्यादिवारभ्य यथैष चन्द्रः क्रमेण दूरत्वमुपैति तस्य ।
अह्ना च रात्र्या च रसप्रयोगादन्यान्यवत् स्यादयमग्निरिन्द्रः ॥
त्रिंशत्सहांसि प्रभवन्ति पक्षेऽहोरात्रभेदानुगमाद् यथार्थं ।
तथा परस्मिन्नपि हीयमानक्रमेण तान्येव भवन्ति पक्षे ॥
या सूर्यपृष्ठात् परिपूर्णचन्द्रे पृष्ठ्या कृता त्रिंशदिह स्युरंशाः ।
सौम्या इमे सूर्य्यगतास्तु शुद्धा अंशास्त्रयः प्राणमनोवचोऽर्थाः ॥
इत्थं त्रयस्त्रिंशदिमे विभागा अहान्यथो देवसहांसि तानि । (कौ०ब्रा० २।६)
त्रिभ्यः परस्तादिह षट् च षट् स्तोमास्त एते ह्युतवोऽग्निसोमाः ॥
तेषां च यः सप्तदशः स मध्योः द्यावापृथिव्यो स विभाजकः स्यात् ।
द्यौरूर्द्धमिन्द्रोर्द्धमियं च सोग्निः प्रजापतिर्मध्यगतः स आत्मा ॥
सूर्यस्तु वौ प्राणमनोऽक्वाक्त्वात् षट् षट् परानाहुरृतूनमीषु । (ऐ.ब्रा.१।५६)
ऋतुष्वयं सूर्य उपाहितः स्यात् स्याद्देवपात्रं तदिदं वषड् यत् ॥ (शत. १।४१)
त्रिभ्यः परे ये षडिदं त्रिवृत स्यात् तत्राग्निमुख्या वसवोऽष्टदेवाः ।
षडूर्ध्वतः पञ्चदशं तु पृष्ठं वाय्विन्द्रमुख्या इह सन्ति रुद्राः ॥
अथैकविंशं तु षडूर्ध्वतः स्यादादित्यमुख्या इह सन्ति देवाः ।
स्यात् सप्तविंशं हि षडूर्ध्वतो यन्नक्षत्रदेवा इह चन्द्रमुख्याः ॥
अन्त्यं तु यत् षट्कममुत्र विश्वेदेवा हि दिक्चन्द्रपरा वसन्ति । (शत. ६।१)
द्यावापृथिव्यौ वसुरुद्रसूर्या इत्थं त्रयस्त्रिंशदिमेऽग्निदेवाः ॥
तेष्वग्निदेवा इह सोमपाः स्युः सोमं स्वदन्तो दधते स्वरूपम् । (कौ.ब्रा. १२।६)
आचैकविंशात् परिवार्य्य तेऽस्थुस्तदुत्तरं सोममयास्तु देवाः ॥
बहिर्वेदेवान्तरतोऽपि सर्वे ते स्युर्विशेषा रविचन्द्रचारात् ।
क्षेत्रज्ञमेतं परिवार्य्य सर्वे त एव देवा इह सन्ति देहे ॥

+यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।
वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि ते ॥
(शत०४ प्र० ७।५।ब्रा०)

यो जायते सर्वविधांस्तु देवानात्मन्युपादाय स जीवतीह ।
ततः स देवेभ्य ऋणी स देवानाप्याय्य यज्ञैरनृणित्वमेति ॥

क्षेत्रस्य विज्ञानात्मनो विधर्तृत्वम् ।

धर्ता यथाऽयं रविरश्मिरुर्व्याः क्षेत्रज्ञरश्मिश्च तथा विधर्ता ।
तदाश्रिता एव शरीरलोकाः सर्वे ध्रियन्ते न भुवि च्यवन्ते ॥
संभेदमायान्ति मिथो न लोकाः क्षेत्रज्ञरश्मिप्रतिरुद्धसाराः ।
स्थाने तु ये यत्र यथा नियुक्तास्ते तत्र तद्वन्नियताः स्थिता स्युः ॥

क्षेत्रज्ञस्य सेतुत्वम् ।

समं स्पृशन् पारमवारमेकः सेतुर्यथा पारगतौ सहायः ।
भौमस्य भूतात्मन एष तद्वत् परात्मनि प्रापयिताऽन्तरस्थः ॥
भौमे रसे संस्तुत एष दिव्यो रसोऽथ दिव्ये प्रतिभाति चित्सा ।
विज्ञानयोगादवनीरसोऽयं प्राज्ञो भवन् भाति स मे शरीरी ॥
विभ्वी चिदेषा विभुरत्र भौमः क्षेत्रज्ञ आत्मा च महांस्तथापि ।
ज्योतींषि पञ्चाप्यनवाप्य योग्यं योगं लभन्ते न चिताश्रयस्ते ॥
प्राज्ञोऽपि विज्ञानमुपेत्य काले त्रैलोक्यपारं यदि याति तर्हि ।
विमुच्यते तेन स दिव्य आत्मा परोरजःसाम्यमितोस्ति सेतुः ॥

क्षेत्रज्ञस्य भूतात्मकर्म्मप्रयोजकत्वम् ।

कर्माणि यः कारयते स आत्मा क्षेत्रज्ञ उक्तः स हि चेतनाढ्यः ।
प्राणः स इन्द्रोऽखिलदेवताढ्यः प्राज्ञस्तमाश्रित्य करोति कर्म ॥
मनोमयः प्राणशरीर आत्मा महानमुष्यः प्रकृतिस्ततोऽसौ ।
त्रैगुण्यधर्मानुपलभ्य भुङ्क्ते बिम्बानुकम्पेन यथैति कम्पम् ॥
न चैष भूयानिह साधु कर्मणा न वा कनीयानपि पापकर्मणा ।
असाधु वा साधु स कर्मकार त्ययं ममात्मास्ति स ईश्वरस्तनौ ॥
"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥"

(उपनिषत्)

क्षेत्रज्ञस्य निर्लिप्तादिगुणकत्वम् ।

न गृह्यते वा न च शीर्यतेऽपि वा न सज्यते न व्यथते न रिष्यति ।
पवित्रमात्मायमगृह्य उच्यतेऽशीर्योप्यसङ्गोऽप्यसितोऽसि चाभयम्॥
असङ्ग आत्मा यदिदं प्रबोधे पश्यत्वनन्वागत एव तेन ।
स्वप्नं चरत्यत्र च दृश्यते यत् तेनाप्यनन्वागत एव तिष्ठेत् ॥

क्षेत्रज्ञस्य अवस्थात्रयी ।

प्राज्ञेन संश्लिष्टतमोऽयमात्मा क्षेत्रज्ञ एता विदधात्यवस्थाः ।
स्वप्नान्तबुद्धान्तविहारशीलः सन्ध्येऽप्यमुष्मिन् रमते तृतीये ॥

जाग्रदवस्थायां क्षेत्रज्ञः ।

देहाद् बहिर्धा विषयान् भुनक्ति यत् सा जागरेयं बहिरिन्द्रियाश्रया ।
आत्मा मनश्चेन्द्रियवर्ग इत्यमी त्रयोऽपि तत्र प्रभवन्ति संहिताः ॥
जाग्रत्ययं बाह्यचरोस्ति पञ्च ज्योतीरवीन्द्वग्निभिरेष वाचा ।
स्वेनात्मना व्यस्तसमस्तरूपैर्यथोपलब्धैरपि पश्यतीदम ॥

स्वप्नावस्थायां क्षेत्रज्ञः ।

स्वपन् स विज्ञानमयोऽधिपैषां विज्ञानमादाय सहेन्द्रियाणाम् ।
शेते तदान्तर्हृदये गृहीत्वा वाक्प्राणचक्षूंषि मनः श्रुतिं च ॥
अस्तं यतोऽर्कस्य मरीचयस्ता तन्मण्डले यान्ति यथैकभावम् ।
सर्वेन्द्रियप्राणगणस्तथास्मिन् प्रज्ञे मनस्यस्ति गृहीत एकः ॥
प्रज्ञस्तु विज्ञानमये विशत्ययं हृदि स्थिते सोऽपि निजान् घृणीन् पुनः ।
सर्वेन्द्रियस्थानपकृष्य केवले निजे शरीरे परिवर्तते हितैः ॥
प्रज्ञात्मनैकीभवतो हृदि स्थितान् प्राणान् स विज्ञानमयो निगृह्य तान् ।
विहृत्य निर्माय नवं नवं स्वयं स्वज्योतिषा भावयते निजात्मनि ॥
स्वप्नान्तिकज्ञानमिदं विदुस्तदा विज्ञानमेतद् हृदयाम्बरे स्थितम् ।
जाग्रद्वदत्रापि च भाति केवलं प्राणा बहिर्नायतनेषु भुञ्जते ॥

सुषुप्तावस्थायां क्षेत्रज्ञः ।

स्वप्नेऽपि जाग्रत्यपि यत्र न स्फुटं किञ्चित् प्रपश्यत्यथ नानुचिन्तति ।
सार्थेन्द्रियं यत्र मनो न सज्जते निर्द्वन्द्व आत्मास्ति सुषुप्तिमाह ताम्॥

नाड्यो हृदि त्वेकशतं प्रधाना एकैकतस्तासु शतं शतं च ।
द्वासप्ततिस्तासु सहस्रकाणि प्रत्येकनाडीषु पुनर्भवन्ति ॥
व्यानश्चरत्यासु हिताभिधासु नाडीषु देहे प्रसृतासु सौक्ष्म्यात् ।
इत्थं निरूचे भगवान्समस्ता नाडीर्हृदुत्था इह पिप्पलादः ॥
सुप्तः समस्तो यदि संप्रसन्नः स्वप्नं न पश्यत्ययमासु तर्हि ।
नाडीषु सृप्तो न तमत्र पाप्मा स्पृशत्ययं तिष्ठति तेजसेद्धः ॥
नाड्यो हि ता ऊर्ध्वमधो हृदस्तताः सर्वत्र तत्रैव विभाति जाग्रति ।
स्वप्ने तु नोर्ध्वासु हितास्वयं न वा सुषुप्तिकाले हृदयेऽपि तिष्ठति॥
नाड्योभिसृत्ता हृदयात् पुरीततं द्वकशैलसाहस्रमिता हितास्ततः ।
पुरीतति प्रत्यवसृप्य निभृतं शेते सुषुप्तौ त्वयमन्यदस्पृशन् ॥
अजातशत्रुः खलु काशिराजः पुरीतति प्रत्यवसृप्तमूचे ।
प्राज्ञेन संश्लिष्टतमः स आत्मा पाप्मानमस्पृश्य पुरीतति स्यात् ॥
प्राणाः शयानस्य पुरीतति स्युः सर्वेऽभिपन्ना अभिलक्ष्य नाथम् ।
अन्वस्थितान्तर्हि विपश्चयते द्राक् तेनात्र विज्ञानगतिं वदामः ॥
पुरीतदेतद्धृदयस्य वेष्टनं यच्छङ्करः प्राह तदस्य साहसम् ।
विरोधदूरीकरणाय वेष्टनप्रकल्पनामेष करोत्यसाधु तत् ॥
हिताश्च नाड्यो हृदयादधस्तात् पुरीततं चानुगतास्तु याः स्युः ।
*प्राज्ञेन संश्लिष्टतमः स आत्मा पाप्मानमस्पृश्य पुरीतति स्यात् ॥
ते पिप्पलादादय आहुरेषोऽन्तर् तु विज्ञानमयोऽशरीरम् ।
अच्छायशुभ्रं प्रतिपद्य तस्मिन् प्रतिष्ठितः साऽस्ति परास्य संपत्॥
हृद्येव नाडीषु पुरीततीह वा प्रतायितः प्राण इतोन्यमस्पृशन् ।
तद् ब्रह्म तत्रैव समर्प्यते तदा स प्राज्ञविज्ञानमयोऽन्तरात्मनि ॥
सुषुप्त आत्मा स हि लोकमेवं रूपाण्यतिक्रामति चात्र मृत्योः ।
कामं तदा कामयते न किञ्चिन्न पश्यति स्वप्नमयं च किञ्चित् ॥
प्राज्ञेन संश्लिष्टतमः स आत्मना विज्ञानमात्मा न विवेद किञ्चन ।
न वेदबाह्यं न तथान्तरे तदा शोकातिगं रूपमकाममस्य तत् ॥
प्रशान्त आनन्दमयेऽभिलीनैः प्राणादिभिः केवलता तदानीम् ।
सा संपदेषा परमा गतिर्नः स एव लोकः परमोऽखिलानाम् ॥

* 'द्वासप्ततिर्यानि सहस्रकाणि प्राहुर्गतं तासु परे तु धीराः' ॥ इति क पुस्तके विशेषः पाठः ।

प्राज्ञः परिष्वज्यत एष तस्मात् संपद्यमानोऽभिशरीरमात्मा ।
संसृज्यते पाप्मभिरुत्क्रमं यद् जहाति विज्ञानमयः पुनस्तान् ॥
यथा फलं बन्धनतः प्रमुच्यते तथायमङ्गेभ्य इतः प्रमुच्यते ।
त्यजन् यथा नो विरचेत् कलेवरं तथा त्यजन् प्राज्ञयुतः प्रयाति सः॥
सौरं च चान्द्रं च तदस्ति तेजोऽत्यन्तं पवित्रं न विहीयते तन् ।
सुषुप्तदेहोऽस्य न पूयते तत् मृतस्य पूतिर्गततेजसोऽस्ति ॥

षोडषीन्द्र अक्षरात्मा ।

षोडश्यात्माऽयं कलाः षोडशाऽस्मिन् प्राणः श्रद्धा पञ्चभूतानि चाक्षम् ।
चित्तं चान्नं वीर्य्यमन्नात् तपश्च मन्त्रा लोकाः कर्मलोकेषु नाम ॥
रथस्य नाभौ निहिता अरा यथा तथा कलास्ताः पुरुषे प्रतिष्ठिताः ।
ता आत्मनः षोडशिनः प्रचारिता लिनन्ति तत्रैव यथांशवो रवेः ॥
सर्वाः कलास्ताः पुरुषायणामता यान्त्यस्तमेतं पुरुषं प्रपद्य ताः ।
स्वे नामरूपे परिहाय पूरुषादेकीभवन्त्यब्धिगतापगा इव ॥
उद्देशमात्रेण तु पिप्पलादः प्रोचे कलाः षोडश षोडशिस्थाः ।
तल्लक्षणं तत्प्रभवप्रकारं न्यरूपयन्नैष विशिष्य किञ्चित् ॥

१ प्राणः	९ मनः	१ आक्सिजन	९ केलसियम्
२ श्रद्धा	१० अन्नम्	२ हाइड्रोजन	१० मगनीसियम्
३ आकाशः	११ अन्नजवीर्यम्	३ नाइट्रोजन	११ लीथियम्
४ वायुः	१२ तपः	४ कार्बन्	१२ क्लोरीन
५ तेजः	१३ मन्त्राः	५ गन्धक	१३ फ्लोरीन
६ आपः	१४ कर्म	६ फास फोरस	१४ अयोडीन
७ पृथ्वी	१५ लोकाः	७ सोडियम	१५ शिलाकिन
८ इन्द्रियम्	१६ लोकेषु नाम	८ पोटासियम्	१६ लोह

परेः विदुः षोडश मौलिकार्थाः शरीरधातार इह प्रतीताः ।
तत्त्वैरिदं षोडशिभिः शरीरं निष्पाद्यते नाधिकमस्ति देहे ॥
स्थूलानि भूतानि तु यानि देहस्यारम्भकाण्यत्र विलोकयन्ते ।
द्रव्याणि मूलानि परीक्ष्यैषां न्यरूपयन् षोडश जातिभेदान् ॥

नामानि तेषां तु चिरन्तनैः क्वचिन्निरूपितानि स्युरुदारदृष्टिभिः ।
तादृत्त्वविद्यापरिलोपतोऽन्यथा स पिप्पलादो निरुवाच षोडश ॥
ते षोडशाप्यत्र तु भूतधातवः स्थूलं शरीरं खलु षोडशात्मकम् ।
प्रजापतिः षोडश ताः कला इमा धत्ते स इन्द्रः पुरुषोस्ति षोडशी ॥
वेदाहमेतं पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णं निहितं गुहायाम् ।
सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् य आस्ते ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

महानात्मा अक्षरात्मा ।

चान्द्रो रसोऽयं द्विविधोऽस्ति मर्त्योऽमृतं च मर्त्यः स तृतीयकोशः ।
मनोमयः प्राणशरीर एवं भारूप आकाशविधः स आत्मा ॥
कौषीतकीया इदमाहुरस्माल्लोकाद् ध्रुवं चन्द्रमभिप्रयन्ति ।
आत्मान एते त इतो विमुक्ताः स्युर्वा पुनर्जन्म भजन्ति पृथ्व्याम् ॥
पूर्वं य आत्मा पृथिवीत उद्धृतश्चन्द्रं गतस्तत्र चिराद्विशोषिवान् ।
चन्द्रात् परावृत्य भुवं पुनर्व्रजन् श्रद्धामयः सोऽद्य खमार्गमागतः ॥
श्रद्धेत्यपां सोमसदां समाख्या श्रद्धा च देवैर्दिवि हूयते यत् ।
सोमस्ततस्तत्र भवत्यथाऽयं सोमश्च पर्जन्यतनौ हुतश्चेत् ॥
तद्वर्षणं स्यादथ वर्षणस्याहुत्या पृथिव्यां भवतीदमन्नम् ।
अन्नं हुतं चेत्पुरुषे ततः स्याद्रेतोऽथ रेतोहवनात्तु पत्न्याम् ॥
गर्भो भवत्येवमसौ दिविष्ठा श्रद्धा महान्नाम भवत्यपूर्वः ।
स जन्मतः षोडशवर्षपूर्त्तौ पूर्णः कलाभिः परिपाकमेति ॥
अध्यात्ममस्मिन्खलु शोणितेऽग्नौ सोमो हुतस्त्वरविजरेतः ।
मासस्य चाहोभिरिहाह्निकांशा आशेरते विंशतिरष्ट चेन्दोः ॥
नाक्षत्रमासादुदयास्तमध्याच्चन्द्रो यदंशून् सृजतीह देहे ।
पिण्डोऽष्टयुग्विंशतिबिन्दुभिस्तैरुदेति तादृक् पुनरन्यमासे ॥
तमाह्निकं सोमरसं सहो विदुः सहोभिरात्मा क्रियते स वै महान् ।
स सर्वनक्षत्रमयैकविग्रहः श्रद्धाविधापोमय एति भूतलम् ॥
स सर्वनक्षत्रमयोऽपि यस्मिन्नाधीयते स्यान्महतः स आदिः ।
यस्मिन्स भूमिष्ठ इतोऽपि तस्मिन् प्रवृत्तयो भूमिमतोऽस्य भावाः ॥

आत्मानमात्मन्यथमात्मसंमितं बिभर्ति तस्य प्रथमं हि जन्म तत् ।
षट् तस्य पूर्वे पुरुषा इहांशतस्तमप्रमाणाः पितरो निजान् रसान् ॥
यदावयंस्तेनवहोन्मितानि तत्सहांसि तत्रात्मनि शश्वदासते ।
पिण्डे गतस्तस्य तुरीयमंशं त्यक्त्वा नवात्मा प्रतितिष्ठतीह ॥
स एष तस्मात् सवनीयभागोऽथान्यस्तुरीयोऽच्युत आत्मनीनः ।
खण्डास्तु पित्र्या न इहान्यभागास्तत्रापि तद्वद्भवति द्विधात्वम् ॥
य आत्मनीना हि न ते सुताः स्युः परे सुताःस्युः सवनीयभागाः ।
कोशा इमे सप्त सहोभिराहिता एकं सहस्राणि सहांसि षड्दश ॥
स्युः पञ्चमे पञ्चदशैकविंशतिः षष्ठेऽष्टयुग्विंशतिरत्र सप्तमे ।
य सप्तमः कोश इमं तु पिण्डं पिण्डस्य खण्डानितरांस्तु कोशान् ॥
आहुस्त एते खलु सप्त कोशा भिन्नात्मनां चावयवः सहास्थुः ।
कोशोऽस्ति यः सप्तम एव एको महान् परेऽस्यावयवाः पृथक् स्युः ॥
कश्चिन्महान् षण्महतां ततार्धैः सहस्थितैरेक इवैष भाति ।
यः सप्तमः कोऽपि महान् स मुख्यः परे तु पित्र्याः षडमी महान्तः ॥
सहैव षड्भिः पितृभिः कृतात्मा देवैरिवेन्द्रः स महान् विभाति ।
पुंसस्तु तस्यात्मनि पिण्डखण्डैः पृक्ता कलायोषिति हूयते सा ॥
तस्याः क्रमात् षोडशवर्षपूर्तौ स्यादष्टयुग्विंशतिभक्तिपूर्तिः ।
इत्थं महान् पैतृककोशषट्केनोत्पद्य पश्चात् सृजति स्वकोशम् ॥
सा सप्तकोशा प्रकृतिर्महान् स्यात् क्षेत्रज्ञ आत्मा प्रकृतेर्वशेऽस्ति ।
प्रायेण सर्वोपि महान् स तिर्य्यक् स्रोतास्ततस्तस्य हि सप्त कोशाः ॥
ओजस्वरूपे परिणम्य नित्यं क्षयन्ति नित्यं पुनरुद्भवन्ति ।
यद्यूर्ध्वरेताः स महानमुष्य त्वोजांसि सद्यः स्युरलं मनांसि ॥
यच्चिन्तयत्यस्य विचारणायां मनांसि वीतानि भवन्ति तानि ।
भवन्त्यधोरेतसि सप्त कोशा नार्य्यां हुतास्तेन भवत्यपत्यम् ॥
द्वैविध्यमेषु स्वयमेति किञ्चित् स्यादात्मनीनं सवनीयमन्यत् ।
कोशेषु सप्तस्वपि तत्तदंशाः स्युरच्युताः केऽपि न ते सुताः स्युः ॥
स्वे सप्त पित्रादिषु षट् च पञ्च चतुस्त्रिकद्व्येकमिताः क्रमेण ।
एतेऽष्ट युग्विंशतिरच्युतांशाः स्युः सप्त कोशा ध्रुवमात्मनीनाः ॥
आश्रित्य तानेव पुनः पुरावच्चतुर्युताशीतिसहोमितिः स्यात् ।
एभ्योऽच्युतेभ्यः परिवर्द्धितांशाः संतानसिद्ध्यै प्रभवन्ति योग्याः ॥

सपिण्डने पिण्डपुन प्रदाने स्वेभ्योऽच्युतेभ्योऽन्यदुपेच्यते तत् ।
यतः पितृणां तमसं मितांशेनात्मन्युपादाय विजायतेऽयम् ॥
ततः पितृणां स ऋणी स तेभ्यः सपिण्डनेऽन्वर्च्य ततोऽनृणी स्यात् ।
सूनौ यतस्ते दधते स्वमंशं स्वधायिनस्ते पितरस्ततः स्युः ॥
स्वीकृत्य पिण्डं स सुतः पुनर्य्यद्दधाति तं स्वं पितृषु स्वधा तत् ।
क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वमिमं दधाना महद्गताः स्युः पितरस्ततस्ते ।
स्वधायिनः स्युः प्रतिधीयतेऽन्नं तेभ्यः स्वधानार्थमिदं स्वधा स्यात् ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वमिति प्रसिद्धस्तमह्वन्तीत्यत एव देवाः ।
स्वाहामता आजिहते च ते त्वं स्वाहा तमेवास्त्विति दीयतेऽन्नम् ॥
देवास्तु होतार इमे य आसते तेभ्यो हि यज्ञोऽन्नमिदं स्वगा+भवेत् ।
देवाः स्वयं यज्ञविधिं प्रतन्वते यज्ञाद्विना नात्मनि देवतास्थितिः ॥

आकृतिर्महान् ।

श्रद्धामयत्वत्र महाननाथापः श्रद्धा स चान्द्रो रस एव योनिः ।
योनिर्महानुच्यत एष चास्मिन् देहे चतुर्धास्ति विभिन्नकर्म्मा ॥
*श्रया चाकृतिर्या प्रकृतिः स्ववृत्तिस्त्वहंकृतिश्चेति चतुर्विधोऽसौ ।
सर्वासु योनिष्वपि मूर्तयो या विभान्ति ता आकृतयः पृथक् स्युः ॥
नरो वजोऽश्वो महिषो वृष श्वा ये सन्ति नानाकृतयोऽत्र जीवाः ।
महान्त एते हि यथा स्वभावास्तथेच्छयैवाकृतयः पृथक् स्युः ॥
यथास्य मूलप्रकृतिस्तथाकृतिर्गर्भमनोवृत्त्यनुसारिणी भवेत् ।
विराजिहीर्षत्यशनं मुखाग्रतो दन्त्यै रसैरोष्ठयुगं ततो दृढम् ॥

+ स्वगाशब्दो यज्ञवचनस्तैत्तिरीयसंहितायां (१ का० १ प्र० १३ अध्याये) व्याख्यातः यथा—
"स्वगा दैव्या होतृभ्य" इति मन्त्रे "यज्ञमेवैतत् स्वगा करोतीति" ॥

*"इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम् । सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥"
(कठे० २।६) इति कठोपनिषदि इन्द्रियमनःसत्वमहदव्यक्तपुरुषेषु–वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्राणां मनस्यायतने ग्रहणात् तथैव श्रुत्याश्रवणाच्चेन्द्रियेभ्यो मनसः पृथगुक्तिः ॥ रजस्तमसोरपि सत्व-विकारतया चरके स्मरणात् । अथ आकृतिर्योनिरेवात्र महानुच्यते । यातु स्ववृत्तिः श्रद्धासंज्ञा तदिहाव्यक्तमुत्तमम् । अथ पुरुषः क्षेत्रज्ञः ॥

* सत्वमहदव्यक्ताः पुनरमी एव श्रद्धा मया आत्मान्तो विवक्षिताः । तत्र त्रिगुणा प्रकृतिः सत्वम् ।



भिन्ना महान्तस्तत एव भिन्ना नरः पशुः पत्त्यथवा परे ये ।
यावन्मनुष्यं तु समानकर्म्मा श्रद्धाविभेदात्त्विह मुच्छभेदः ॥
सर्वे महान्त खलु जीवयोनयः पुरायुगीयैर्गणनाभिरुद्धृताः ।
अशीतिलक्षाणि भवन्ति सर्वथा चत्वारि लक्षाणि च नाधिकान्यतः ॥
एकैक एषां महतां प्रमाणतो नियम्यते सा नियतिः पृथक् पृथक् ।
अदृश्यदेहाः परमोन्नता अपि द्रुमा इमे सन्ति तथैव जन्तवः ॥
यो यस्य भूमा नियतः स जातः क्षुद्रोऽपि भूमानमुपैति तं तम् ।
भूमानमाप्यैष निवर्तते खं यस्यैष भूमा नियतो महान् सः ॥
यथा मनुष्यस्य शरीरमष्टप्रदेशमात्रं क्रमते स भूमा ।
प्रादेशके सार्द्धदशाङ्गुलत्वात् स षोडशापूर्णशताङ्गुलत्वात् ॥
अथाङ्गुलीभिस्तु निजाभिरेतद् व्योमप्रमाणं प्रथते शरीरम् ।
यत् पौरुषं मानमिहाङ्गुलीनां विंशं शतं तत्पुनरूर्ध्वबाहु ॥
सार्द्धत्रिहस्तं खलु पञ्चहस्तं तथा चतुर्हस्तमिति त्रिधापि ।
न्यूनाधिकं स्यान्नियतैः प्रमाणैः सोऽयं नियत्या महतो विकाशः ॥
स्यादेकहस्तस्तु नरः शिशुत्वादत्यल्पविज्ञानबलेन्द्रियार्थः ।
तावान् कपिः प्रौढवयाः सुविज्ञः पूर्णेन्द्रियः पूर्णबलः स्वतन्त्रः ॥
गजाश्वगोगर्दभसिंहवस्तश्वमूषकोत्वादिकलेवराणाम् ।
मानानि भिन्नानि भवन्ति सोऽयं भिन्नप्रमाणोऽस्ति महान् विभिन्नः ॥

प्रकृतिमहान् ।

मनुष्यमात्रप्रकृतिर्विभिन्ना येयं विपर्येति शरीरभेदात् ।
एकस्य पुंसोऽपि च भिद्यते या सोऽयं स्वभावोऽस्ति महान् द्वितीयः ॥
लोके हि सर्वत्र गुणैः प्रकृत्याः कर्म्माणि सर्वाण्यवशं क्रियन्ते ।
तथाप्यहंकारविमूढ आत्मा कर्ताऽहमस्मीत्यभिमन्यतेऽलम ॥
कामक्रोधप्रमुखाः प्रकृतिगुणा नित्ययोगतो महतः ।
क्षेत्रज्ञं विज्ञानं कलुषीकुर्वन्ति कृत्स्नतो व्याप्य ॥
चित्सहितः प्राणो यस्तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते सूर्य्यम ।
तत्प्रेरितभूतात्मा सदसद् वा चेष्टते भौमः ॥
धूमविदूषितदीपज्योतिरिव ज्ञानमल्पतां याति ।
सदसद्विचादमूढः श्रेयस्त्यक्त्वाऽनुमोदते प्रेयः ॥

यः सम्राड् यो वीरो यो ग्रामीणश्च कातरः कोऽपि ।
सर्वेषां भूतात्मा तुल्यगुणश्चैकरूपश्च ॥
क्षेत्रज्ञः पुनरेषां विज्ञानात्मा विभद्यते तेन ।
कश्चित् क्षमते राष्ट्रं रक्षितुमन्यस्तु नाङ्गमपि ॥
क्षेत्रज्ञोऽपि समानः स्यादिति मन्ये तथापि सहजस्य ।
महतो गुणसंयोगादल्पबलो वा महाबलो वा स्यात् ॥
एष महानिह चन्द्रः स क्षयवृद्धिस्वभावतो नित्यम् ।
सत्त्वरजस्तमसां वा भेदान्नानाविधोऽन्वर्थम् ॥
महतो विशेषकत्वात् क्षेत्रज्ञोऽयं विशेषवान् भवति ।
क्षेत्रज्ञतारतम्याद् भूतात्माऽयं विशिष्यते बहुधा ॥
चन्द्रो महानयं स त्रिविधः क्षेत्रज्ञसंमुखे स्वच्छः ।
क्षेत्रज्ञेन विदिक्स्थो भागस्तिमिरोऽथ सन्धिगच्छाया ॥
स्वच्छं सत्वं छाया रज आहुस्तिमिरमिह तमो नाम ।
एषां विभेदतः स्युः प्रात्ययिका अस्य हि त्रिधा भावाः ॥
एते त्रयो गुणा ये त एव विज्ञानभासि भावानाम् ।
प्रकृतय एवं प्रकृतिः समहान् क्षेत्रज्ञभोग्यजातानाम् ॥
पर्य्यायतश्चारयते तु पादौ गच्छन् न स प्रेक्षणपूर्वकारी ।
शिशुर्न विज्ञाय करोति यत्नं प्रज्ञः प्रकृत्या चरतीति मन्ये ॥
शिक्षोपदेशादिभिरस्य मन्ये क्षेत्रज्ञविज्ञानमिह प्रवृद्धम् ।
न तावतास्य प्रकृतौ विशेषो महान् विपर्य्येति तु भिन्नहेतोः ॥
ज्ञानक्रियान्नादिविशेषभोगादभ्यासयोगादपि कालभेदात् ।
विपर्य्ययं सा प्रकृतिः प्रयायात् कर्म्माणि भिन्नानि ततस्तथा स्युः ॥
हस्तक्रियाकौशलमत्र कर्म्मस्फूर्तिश्च वाक्पाटवमेवमादिः ।
प्रज्ञस्य धर्मो न महान्नवायं क्षेत्रज्ञ आत्माधिकरोति तस्मिन् ॥
चन्द्रो यथायं त्रिविधस्तमोमयश्छायामयः सूर्य्ययुतेः प्रभामयः ।
तथा महांश्च त्रिगुणः स इष्यते तमो रजः सत्वमिति त्रयो गुणाः ॥
क्षेत्रज्ञविज्ञानयुतो विभागः सत्वं स्वरूपेण तमो रजस्तु ।
सन्धिः समावस्थगुणत्रयं तत् सर्वप्रवृत्तिप्रकृतिं प्रविद्यात् ॥
सत्वं रजश्चैव तमश्च तस्मिन् गुणा महत्यात्मनि सन्ति नित्याः ।
यैर्व्याप्य कार्त्स्न्येन समग्रभावानयं महांस्तिष्ठति भूतदेहे ॥

स्वतो महानस्त्यशरीर एवं भूतात्मसंसृष्टमुपेत्य बद्धः ।
संसृज्यते पाप्मभिरेष तस्माद् भवेच्छरीरी च स कर्म भुङ्क्ते ॥
"गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स रूपविश्वस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥
(श्वेता० ५।७)

त्रयो गुणाः सन्ति तु सांख्यशास्त्रे निरूपिता मानवधर्म्मशास्त्रे ।
पुराणशास्त्रे च ततो विशेषात् कर्म्मप्रवृत्तिं विविधां प्रतीयात् ॥

प्रकृतिविकृतयो वृत्तयः ।

यथा यथास्य प्रकृतेर्विकारास्तथा तथास्मादवशं भवन्ति ।
हसन्ति शोचन्ति विकल्पयन्ति स्वपन्ति जाग्रत्यवयन्ति यन्ति ॥
श्रद्धा मनोवृत्तिविशेष आत्मा यमर्थमन्वेति तदाकृतिः स्यात् ।
श्रद्धास्ति यस्मिन् ध्रुवमस्य रूपं गृह्णाति सद्यस्तदपेक्षमाणः ॥
प्रतिक्षणान्यान्यविशेषयोगात् प्रतिक्षणान्यान्यविशेषमूर्त्तिः ।
बहिर्यथा मूर्तिधरोऽयमन्ते प्रेत्यैष तस्यां पुनरेति योनौ ॥
श्रद्धा हि विज्ञानविशेषयोगात् तां तां दधात्याकृतिमन्तरङ्गाम ।
यावन्न जानाति न तावदत्र श्रद्धामुपैति श्रदियं तु सत्यम् ॥
जीवद्दशायां मुहुरेवमेवान्यान्याकृतीनां परिवृत्तयः स्युः ।
यां त्वाकृतिं प्राप्य स याति देहाद्देहान्तरं यावदयं तथास्ते ॥
क्षेत्रज्ञयोगादिह सन्ति यद्यप्यक्षाणि किन्त्वत्र विशेषयोगाः ।
न सन्ति तस्मादिह सांपराये तदा कृतेर्नो परिवृत्तियोगाः ॥

अहंकृतिमहान् ।

यत्राहमित्यस्ति मतिः स विग्रहः स चेतनो येन कृतोऽस्ति धातुना ।
असावहंकार इतीह कथ्यते स यद्विकारः स महान्मतः परः ॥
महांश्चतुर्थः स हि सांख्यशास्त्रे प्रोक्तो विशेषेण ततः स नेयः ।
योऽस्मादहंकार उदेति सोऽहंकारो मतः पञ्चविधस्तु सांख्ये ॥
वैकारिकात्प्राज्ञगतास्तु देवा यस्तैजसस्तैजसरूपकृत्सः ।
भूतादितो दैहिकभूतसंघः स्यात् सानुमानाननुमानतोऽन्यत् ॥
पञ्चेन्द्रियाण्येव हि पञ्च देवाः वाक्प्राणचक्षुःश्रुतयो मनश्च ।
तान्यग्निवाय्वर्कदिगिन्दुक्लृप्तान्येषु क्रिया प्राण इदं मनो धीः ॥

रसश्च गन्धः खलु रूपशब्दौ स्पर्शस्त्वचीतीन्द्रियभूतसंघः ।
यत्रेन्द्रिये भूतगुणोऽस्ति योयंस्तदिन्द्रियं तद्गुणमेव विद्यात् ॥
भूतादितो भौतिकसंघ एवं वैकारिकाद्दैवतसंघ एषु ।
भूतानि देवाश्च यदिन्द्रियत्वं लभन्त एतन्महतोऽस्मि कर्म्म ॥
तेजांसि विद्युच्च रविश्चचन्द्रस्त्रयस्त्रयस्तत्परिवारदेवाः ।
द्यौः प्राण आकाश उतान्नमग्निः पृथ्वीति नक्षत्रदिगाप इत्थम् ॥
एषां यदस्मिन् समवायतोऽन्यः प्राणोऽति यै तैजसमाहुरार्य्याः ।
तत्रास्ति हेतुः स महांस्ततस्ते संश्लेषिताः संहतिमाप्नुवन्ति ॥
भूतादिरन्योरित स पञ्चधा स्याद् यतः स्युरत्रानपरात्मदेहाः ।
संश्लेषणं पीतसिते च सूत्रे तथा द्रवद्रव्यमथेन्द्रियाणि ॥
मांसास्थिमज्जान्त्रकलावसासृग्मस्तिष्कमेदःसु च सन्ति शुक्रे ।
जीवा विभिन्नाकृतयोऽतिसूक्ष्मास्तान्नः शरीरेऽनपरान् वदामः ॥
तेषां शरीराणि भवन्ति भूतैर्यत्तेषु सोमोऽस्ति महान् विधाता ।
भूतानि भिन्नानि स योजयित्वा स्वावेशतोऽङ्गानि करोत्यमीषाम् ॥
संश्लेषणा द्रव्यविशेषतोऽस्मिन् संश्लेषिताः स्युः सुमराः समस्ताः ।
तेषां च संश्लेषणतः शरीरे स्युर्धातवः सर्वविधाः पृथगवत् ॥
द्विधा भवन्त्यत्र च तन्तवस्तनौ सिताश्च पीताः कतिचित् पृथग्विधाः ।
ते मृन्मनोवायुमयास्ततो भवत्यानाय एतेन वपुः सुदर्भितम् ॥
यद्वा द्रवद्रव्यमनेकधास्मिन् देहेऽस्ति तस्यापि स सोम आत्मा ।
ये चेन्द्रिये भूतगुणाः पुरोक्तास्तत्रोपधातस्ति स सोम एषाम् ॥
आरम्भणद्रव्यविधा इह स्युः पञ्चैव तैरेव कृतं शरीरम् ।
भूतानि तेष्वन्यविधानि सोमः संसृज्य रूपाणि करोति नाना ॥
श्रद्धा च दिक् चेति मनो द्विधाऽसौ सोमः स च स्निग्धतनुश्च वीध्रः ।
श्रद्धा द्रवाङ्गा च दिगद्रवास्याच्छ्रद्धा चितं प्राप्य विभाति नो दिक् ॥
वैकारिकाद्या त्रिविधापि सृष्टिर्दिकसोमतोऽभून्न चिदाविरस्याम् ।
या सानुमानाननु मानतोऽन्या सृष्टिर्द्विधा तत्र चिदाविरस्ति ॥
व्यूढा तु सत्त्वा इह सानुमानादव्यूढसत्त्वं तु निर्मितास्ते ।
अव्यूढसत्त्वस्य तु भिन्नसत्त्वैर्न चानुनिर्माणमिहान्तरस्थैः ॥
जीवेश्वरा वा परमेश्वरो वा व्यूढा इमे ह्यन्तरतोऽन्यसत्त्वाः ।
अव्यूढ एवानपरोऽन्तरस्थो यतो भवेत् सोऽननुमानसंज्ञः ॥

शरीरिणोऽस्मान्महतस्त्वसंख्या या मूर्तयः काश्चन निष्पतन्ति ।
ताश्चेष्टयन्तीह समग्रभूतान्युच्चावचानीति वदन्ति वृद्धाः ॥
स्युश्चेतनास्तेऽनपराभिधाना भ्रूणास्त उक्ताः सृमरास्त उक्ताः ।
तान् वा विभज्येह वदामि शुक्रे भ्रूणान्परस्मिन् सृमरास्तु धातौ ॥
भ्रूणा अपीमे सृमरास्तथापि भ्रूणः सुतो योषिति गर्भभूतः ।
अपत्यदेहाय भवेत्प्रवृद्धस्तस्मात् पृथक् तं सृमराद्वदामि ॥

भ्रूणाः ।

प्रत्यङ्गतेजोभिरनुस्रवद्भिः पृथक्चितैर्भ्रूणविधा भवन्ति ।
रेतःस्थितास्ताः प्रतिमूर्तयः स्युस्तद्भ्रूणसंघातमयं हि रेतः ॥
महच्छरीरादिह निष्पतन्त्यस्ता मूर्तयो येन कृता भवन्ति ।
चतुर्युताशीतिमितं तदस्मिन् सौम्यं सहस्तिष्ठति सप्तकोशम् ॥
पिण्डं तमाहुः स मुहुः शरीरे भूत्वा मुहुस्तत्र विलीयते च ।
स्यादोजसे स्यान्मनसे विलीनं क्षेत्रज्ञवर्ग्यास्तमदन्ति देवाः ॥
क्षेत्रज्ञमादित्यरसं यथा ते देवास्त्रयस्त्रिंशदुपाश्रिताः स्युः ।
चतुर्युताशीतिमिता महान्तं श्रद्धामया स्युः पितरस्तथैकम ॥
भ्रूणा इमे शुक्रहिताः स्युरेते पुंसूर्ध्वरेतःसु मनो भवन्ति ।
प्राणास्तिरोरेतसि चोग्र्मयोऽथापत्यान्ययोरेतसि भावयन्ति ॥
श्रद्धात्मकः शुक्रगतो महान् स्यात् स चन्द्रमेवाभ्ययतेऽथ चन्द्रे ।
इतः प्रदानो लभते स्वभोगं चन्द्रस्थजीवांस्तु पितॄन् वदन्ति ॥
पापाश्च पुण्याश्च य एव केचिल्लोकादितो यान्ति सुषुम्णया ते ।
परिग्रहाच्चन्द्रमसं प्रयान्ति प्रायेण संवत्सर एतदध्वा ॥
इमां तु पृथ्वीं परितो भ्रमन्तं चन्द्रं परिव्याप्य सदैव यावत् ।
सूर्य्यस्य रश्मिः क्रमते तमाहुर्नाड़ीं सुषुम्णां क्षितिचन्द्रगृह्याम् ॥
अमुष्य पृथ्व्यामिह पुत्रपौत्रादयः स्युरासप्तममेव यावत् ।
स तावदायुर्भ्रियतेऽत्र चन्द्रे क्षेत्रज्ञतः स्यात् परतो वियुक्तः ॥
सौम्योऽष्टविंशत्यहरंशुधानापिण्डो विभक्तः स हि सप्तधा स्यात् ।
सन्तानितो भूरसगृह्यखण्डैर्भूम्या गृहीतः स न याति चन्द्रात् ॥
पित्र्यो विभागः प्रतिपूरुषं षट्पञ्चाशदंशो बहवः सपिण्डाः ।
पित्र्येऽनुपक्ता बहवस्तु पृथ्व्यां सन्तानभूता न गतिस्ततोऽस्य ॥

श्रद्धा हि सूत्रं तत एष गृह्य संतानतः स्यात् पृथिवीप्रतिष्ठात् ।
न मुच्यते भूमिरसादथोर्ध्वं सूर्यं गतो हीयत एष चन्द्रात ॥

सृमराः ।

अव्यूढसत्त्वोऽनपरः कचित्स्यादेको हि तस्मिन् सृमरः शरीरे ।
देहं द्रवप्रायतनुर्विचित्रं प्रसारणाकुञ्चनतः करोति ॥
मध्येशरीरं तु शिरोऽस्य तस्मिन् मस्तिष्कबिन्दुर्भवतीह सूक्ष्मः ।
सारैकचक्रं कचिदस्य चञ्चुर्मलं प्रहातुं विवरं कचित् स्यात् ॥
तारुण्यमाप्तस्य शरीरपुष्टौ मस्तिष्कबिन्दुर्भवति द्विधास्य ।
शिरः प्रभेदाच्च शरीरभेदः संपद्यते तेन परस्तथावत् ॥
द्वावेकतोस्माद् भवतस्तदित्थं सन्तानसृष्टिर्मिथुनं विनास्य ।
शरीरभङ्ग्याऽन्नमुपेत्य देहं चाकुञ्च्य गर्भे स विलाययेत् तत ॥
यां वा दिशं गन्तुमथेहतेऽयं प्रसारिता तद्दिशि तत्तनुः स्यात् ।
अपाच्छरीरं चिपिटं च वृत्त कृत्वायतं गच्छति किञ्चिदग्रे ॥
अथो शरीरे सृमरा अनेके विभिन्नरूपाः प्रतिधातु सन्ति ।
मज्जास्थिमांसान्त्रकलावसाऽसृग्मस्तिष्कमेदःसु वसन्ति दृब्धाः ॥
श्रद्धाद्भ्य एषां क्रियते शिरोगतो मस्तिष्कभागस्तत उत्थितं मनः ।
प्राणानुपाहृत्य नियुज्य कृत्स्नशश्चेष्टाकृते चेतयते निजां तनुम ॥
महद् यदेति प्रतिमूर्तिभावं विज्ञानमात्माऽन्वयतेऽत्र बीजम् ।
मृदेव रूपं भजते यथाद्भिः संसर्जनात् तद्वदिहापि विद्यात् ॥
सत्त्वा इमे सत्त्वकुलैरनन्तगर्भा यथा शीर्ष्णि महानमीषाम ।
तैर्गर्भितानामपि तद्वदेषां नृणां महान् शीर्ष्णि परो विभाति ॥
नैषामहङ्कारकृते महानसौ यतो मनुष्यादिरहङ्करोत्ययम् ।
तेषामहङ्कारकृते च ये पृथक् न तैर्मनुष्यादिरहंकरोति वा ॥
इत्थं महान् स द्विविधः समुच्चितोऽस्त्येकत्र देहे दहरोत्तरक्रमात् ।
वदामि तत्राननुमानमान्तरं तं सानुमानं य इहास्ति सान्तरः ॥
योन्याकृतिर्या प्रकृतिः स्ववृत्तिर्या दम्पतिभ्यां तदपत्यसृष्टिः ।
सर्वं तदेतन्महतो विधानं श्रद्धाभिधा आप इहास्ति बीजम ॥

इति महानात्मा ।

भूतात्मा ।

क्षेत्रज्ञ उक्तो रस एष सौरो यथा यथा चान्द्ररसो महान् स्यात् ।
भूतात्मता भूमि रसस्य तद्वद् द्विधातुमर्त्यामृतभेदतस्ते ॥
सर्वं बहिर्धातुविकारयोगाद् घनत्वमायाति तदस्ति मर्त्यम् ।
अर्द्धं यदस्याविकृतं स्वरूपं तदन्तराभात्यमृतं तदाहुः ॥
भूमीन्दुमार्तण्डरसास्तनुस्था मर्त्या महीचन्द्ररवी नभिष्युः ।
विस्रंसितास्तैरमृतैस्तनुस्थैराकृष्यमाणाः पुनराभ्रियन्ते ॥
अच्छिन्नमूलस्तु बहिःस्थितोऽर्कश्चन्द्रश्च भूतेषु रसं ददाति ।
क्षेत्रज्ञ आत्मा च महांश्च ताभ्यां मिथौ प्रथेते रविचन्द्रलग्नौ ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा च महांश्च भूतैः प्रक्नाविहोच्चावचभूतनिष्ठम् ।
तं भौतिकात्मानमुभौ समेतौ समन्ततो व्याप्य तु तिष्ठतस्तौ ॥
क्षेत्रज्ञ आविःक्रियते परात्मा क्षेत्रज्ञ आत्मा तु महत्युदेति ।
भूतात्मनोऽन्यैस्त्रिभिरात्मभिस्तैः समन्वयं सूत्रकृतं प्रतीमः ॥
परस्परेण व्यतिषक्ततन्त्रा आत्मान एते विभवन्ति देहे ।
तत्राऽखिलानामवरेण तेषामाराधनीयः पर आत्मसिद्ध्यै ॥
बुद्धिं मनश्चित्तमिति क्रमेण क्षेत्रज्ञमत्राह महान्तमेवम् ।
प्राज्ञं च केचित्तु चतुर्थमत्राहङ्कारमाहुः स महांस्तृतीयः ॥
क्षेत्रज्ञतोऽयं महता च नित्यं संसृज्यमानो भवतीति कृत्वा ।
परस्य धर्म्मांश्च परत्र कांश्चिद् व्याकृष्य भूतात्मनि केचिदाहुः ॥
ज्योतिर्यथेदं त्रिविधं मनोविधं भूतं तथा वागभिधं त्रिधेष्यते ।
भूतेष्वधिष्ठातृतयाभिमानिनो देवा हि भूतात्मपदेन भाविताः ॥
द्यावापृथिव्योश्च रसौ त्रिलोकातीतो रसश्चेत्यमृतत्रयं यत् ।
आपोमये मृत्युपदेऽन्नकोशे समन्वियादेष स भौतिकात्मा ॥
कृमौ च कीटे विहगे पशौ नरे साधारणा धर्म्मगणा य आसते ।
आहारनिद्राभयमैथुनादयो भूतात्मरूपं तदिह प्रचक्ष्महे ॥
औष्ण्यं धातुः स्नायुरित्थं त्रिभूतोऽथाग्निर्वायुश्चेन्द्र इत्थं त्रिदेवः ।
अर्थः सारो ज्ञानमित्थं त्रिकर्म्मा भूतात्मायं भासते कर्तृजीवः ॥
लोमत्वगस्थ्यादिकृतान् विशेषान् धत्ते य आत्मा पृथिवीसमुत्थः ।
चेष्टाश्च चेष्टाजननश्च कामो यत्र ध्रियन्ते स हि भौतिकात्मा ॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा महतैकभूतो यस्मिन् विशेषान् जनयत्यनेकान् ।
स भौतिकात्मा त्रिविधः स उक्तो वैश्वानरस्तैजस एष च ज्ञः ॥

वैश्वानरः–तैजसः–प्राज्ञः ।

वैश्वानरा भूरवियोगजो स्यात् स्यात् तैजसोऽर्केन्दुतडिज्जवायुः ।
प्रज्ञा परात्माहितचेतना स्यादिन्द्रे चिदिन्द्रोऽ ब्रति षोडशीन्द्रे ॥
भूमाविमाविन्दुरवी ददाते रसं वसत्यत्र स वृक्णमूलः ।
अन्नाच्छरीरे स विपाकमाप्य प्रोद्बुध्यते तैजस एष आत्मा ॥
काचस्वरूपाय यथात्र क्लृप्ता मृत्स्ना तथादित्यविशेष इन्द्रः ।
रसेन सौम्येन विभास्वराङ्गस्तस्मिंश्चिदाभासत इत्यवैमि ॥
"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥"
वैश्वानरो वैष स तैजसो वा सतैजसप्राज्ञ इति त्रिविद्धा ।
भूतात्मसंज्ञः खनिजे क्रमेणोद्भिज्जे पृथक् तिष्ठति जीवजे वा ॥
अर्था यथैते खनिजाः स्युरात्मना वैश्वानरेणैव तथा पृथग्विधाः ।
पेशी यकृत्क्लोमवपावसादयो देहे स्युरेषां खनिजत्वमिष्यते ॥
वल्ल्यः क्षुपा ओषधयो वनस्पतिव्यूहा यथा तद्वदिहापि विग्रहे ।
शिराधमन्योऽस्त्यणुतन्तवः कचा अन्त्राणि मेर्वस्थितरुः स पर्शुकः॥
एवंविधास्तैजसतः समुत्थिता अनेकवृक्षाकृतयः कलेवरे ॥
उद्भिज्जकाये खनिजाश्च चेतने तूद्भिज्जकाः स्युः खनिजाश्च जीवजाः।
भूतात्मनैव क्रियते ततो या संस्कारसंपत्तिरियं च तस्मिन् ।
भूतात्मनि स्यान्न महान्नवायं क्षेत्रज्ञ आप्नोति ततो विकारम् ।
कायेन वैश्वानरगं क्रियाफलं वाचा कृतस्यास्ति फलं तु तैजसे ॥
प्राज्ञे फलं स्यान्मनसा कृतस्य च प्राप्नोति भोगानपि तत्प्रसङ्गतः॥
कायेन वाचा च मनोऽन्तरेण क्रिया न काचित् क्रियते ततो यत् ।
क्रियाफलं किञ्चन वेदनीयं प्राज्ञस्तदत्राखिलमेष भुङ्क्ते ॥

वैश्वानरात्मा ।

यदस्ति किञ्चिद् द्विविधं प्रतीयात् प्रत्येकमेतद्ध्यमृतं च मर्त्यम् ।
मर्त्यं वपुः स्थूलमिदं तदन्तः प्राणेऽमृतं तद्द्वयमन्वितं स्यात् ॥

द्यावापृथिव्याविदमन्तरिक्षं मर्त्यानि विश्वानि भवन्त्यमूनि ।
अग्निश्च वायुश्च रविश्च तत्र प्राणास्त्रयस्ते नरसंज्ञकाः स्युः ॥
प्राणो विशत्यत्र च तेन विश्वं विश्वं नयत्येष ततो नरोऽयम् ।
त्रीण्येव विश्वानि नरास्त्रयस्ते विश्वानराः स्युः सह भाषिताश्चेत् ॥
दिवो य आदित्य उपैति यो वा भुवोऽङ्गिरा याति तयोश्च योगात् ।
उत्पद्यते कश्चन यौगिकोऽग्निर्वैश्वानरं नाम तमाहुरार्य्याः ॥
ये मौलिकास्त्रिष्वपि तेऽग्नयस्त्रयस्तेषां च संयोगवशेन यौगिकः ।
प्रजायतेऽन्योग्निरयं स चापि वा त्रिष्वेव तेषु ध्रियते पृथक् पृथक् ॥
आद्यां स आभाति स आ च पृथ्वीमन्तर्बहिः सर्वगतोऽयऽमग्निः ।
सूर्य्येऽन्तरिक्षे भुवि चैष भेदादासज्जते तस्य च तस्य चात्मा ॥
वैश्वानरो भूहृदयात्समुत्थितः पृथ्व्या अशेषावयवेषु संभृतः ।
ततो बहिर्धा परितो महीयते स सूर्य्यपर्य्यन्तममुत्र चीयते ॥
सूर्य्येऽपि वैश्वानर एष नाभितः प्रोत्थाय सर्वावयवेषु संभृतः ।
ततो बहिर्धा परितश्च वर्द्धितः स चीयतेऽस्याश्च परापरावतः ॥
यावच्छरीरेऽन्तरतः प्रविष्टो वैश्वानरो नाम स तावदुक्तः ।
यावद्बहिर्धास्ति स एव तावत्संवत्सरः स्याद्भुवि वा रवौ वा ॥
हिरण्मयो नाम स यः पृथिव्यां हिरण्मयो नाम स योऽस्ति सूर्य्ये ।
यस्त्वन्तरीक्षे स हि मातरिश्वा त्रयोऽप्यमी एक इवेत्र चार्थः ॥
यथा पृथिव्यां स तथैव नृणां देहेपि वैश्वानर एष भाति ।
यो भूरसो यश्च दिवो रसोऽस्मिंस्ताभ्यां समुत्पद्यत एष योगात् ॥
मैत्रिश्रुतौ पूर्वमुवाच शाकायन्यो महर्षिः खलु मैत्रिशिष्यः ।
इक्ष्वाकुवंश्याय बृहद्रथाय वैश्वानरोऽध्यात्मगतो यथाभूत् ॥
अभ्याभवत्येष उपांशुरन्तर्यामं स चोपांशुमजस्रवृत्त्या ।
तदन्तरादौष्ण्यमुदेति वर्षात् स एष वैश्वानरपूरुषोऽस्ति ॥
प्राणोऽस्त्युपांशुस्तु तमभ्यपानोन्तर्याम एतौ च मिथोऽभियुक्तौ ।
व्यानं हितोपांशु स वाश्मभूतं जहीत अस्मात् सवनात् तृतीयात्॥
अग्ने रुपांशुग्रह एष सोमोऽन्तर्यामनामग्रहदेवतास्ति ।
प्राणोऽग्निकर्म्मास्त्यथ सोमकर्म्मापानोऽस्ति ताभ्यामिदमग्निजन्म ॥
वैश्वानरोऽन्तःपुरुषेऽस्ति योऽग्निर्येनाशितं पच्यत एतदन्नम् ।
तस्यैव घोषोऽस्त्यपिधाय कर्णौ शृणोति यं नो शृणुते मुमूर्षुः ॥

शीतो मरिष्यन् भवतीह जीवन्नुष्णः स वैश्वानर एव तस्मात् ।
अयं मनुष्यः पुरुषः परो वा यदस्ति विश्वं तदयं न चान्यः ॥
पृथ्वीवदस्मिन्नपि सूर्यवद्वा वैश्वानरः स्याद् द्विविधः शरीरे ।
वैश्वानरः सोऽन्तरतो बहिर्यः सम्वत्सरः स प्रथतेऽन्यनाम्ना ॥
सम्वत्सरौ द्वावितरौ शरीरे द्यावापृथिव्योर्यदुपाहितौ स्तः ।
चतुर्विधस्तेन शरीरनिष्ठः संपद्य वैश्वानर एष भाति ॥
नारायणो भूतपतिश्च भिद्यतेऽथो भूपतिर्वा भुवनस्य वा पतिः ।
इत्थं शरीरे स चतुर्विधो हितो वैश्वानरोऽग्निः प्रतिपद्यते पुनः ॥
वैश्वानरोऽसौ भुवनस्य यः पतिः संवत्सरो भूतपतिस्तनोर्हितौ ।
संवत्सरो भूपतिरत्र पार्थिवो नारायणो यज्ञ इहैतव त्सरः ॥
यो भूपतिस्तेन तनुः पृथिव्या उपस्थ आसीदति तद्गृहीता ।
देहे क्रियन्ते भुवनस्य पत्याऽमी धातवः सर्वविधा अजस्रम् ॥
संवत्सरो भूतपतिः स यस्मादादर्शतोयादिषु भाति रूपम् ।
तत्प्रागवाक् प्रत्यगुदक् समन्ताद् दूरे तथा सन्निहितेऽवलोके ॥
नारायणो यज्ञमयस्ततोऽन्नं भुङ्क्तेऽङ्गवृद्धिः शिरउन्नतिश्च ।
विस्रंसमानोऽप्ययमग्निरस्मिन्न हीयते सन्ततसंभवत्वात् ॥
वैश्वानरोग्निभुवनस्य यः पतिः स एष मुख्यः प्रणिधीयते तनौ ।
आत्मानमस्मिन प्रतितिष्ठ तिस्वयं प्रादेशमात्रेण विभज्य भूयसा ॥
प्रादेशसीमास्तु शिरश्च कण्ठं हृन्नाभियोनीश्च वदन्ति मुख्याः ।
उर्ध्वाधरं तिर्य्यगपीदमष्टप्रादेशमेवास्ति नृणां शरीरम ॥
चतुर्युगाशीतिरिहाङ्गुलीनां शरीरमात्रास्त्यधरोत्तरा या ।
बाह्वोश्च तिर्य्यकृत तयोः सपाण्योः सवक्षसोरस्ति मितिस्तथैव ॥
व्योमप्रमाणं तु नृणां शरीरं तिर्य्यक् तथोऽर्ध्वाधरमाहुरेके ।
तत् स्वाङ्गुलीभिर्भ्रियतेऽथ भिन्नप्रमाणमत्रोदयते विकारात् ॥

तैजस आत्मा ।

तेजांसि तु त्रीणि रविश्च चन्द्रो विद्युच्च चीयन्त इहैकभाव्यात् ।
स तैजसो नाम यदा य आत्मोपतिष्ठते तर्ह्युपचीयतेऽङ्गम् ॥
आदित्यमेतं परिवृण्वतेऽग्निः पृथ्वी तथान्नं च शरीरसिद्धयै ।
चन्द्रं तु नक्षत्रकुलानि चापो दिशश्च नित्यं परिवृण्वते तम ॥

द्यौः प्राण आकाश इति त्रयोऽन्ये तां विद्युतं द्राक् परिवृण्वतेऽस्मिन् ।
त्रिभिस्त्रिभिस्तैः परिवारभूतैस्तेजांसि तु त्रीणि ममायमात्मा ॥
सैषाग्निविद्योच्यत आत्मविद्या चतुर्थताण्ड्योपनिषत्प्रपाठे ।
देवप्रसादादुपकोसलेन जाबालशिष्येण पुरोपलब्धा ॥

प्रज्ञात्मा ।

यदन्नमभाति तदेष एवादत्ते ततोऽग्निः प्रतितिष्ठतीह ।
ततश्च भूतानि भवन्ति भूयो यैर्धातुभिर्धार्य्य तएष देहः ॥
नक्षत्रतस्त्वातवलोमकूपा दिग्भिश्च सोमैः परितः प्रकाशः ।
अद्भिः शरीरोपचयो मृदुत्वस्नेहो द्रवोऽध्यात्ममिमानि चन्द्रात् ॥
प्राणात् क्रिया खात्तु गुहाश्चतुर्णां व्योम्नां मिथः स्याद्दहरोत्तरत्वम् ।
स्रवन्ति दिव्यास्तु रसाः शरीरे यवीव तिष्ठन्ति दिवोऽन्ववायात् ॥
सूर्यस्य चन्द्रस्य च वृक्णमूलौ रसौ च विद्युच्च मनुं गताः स्युः ।
ते मानवास्तेन तनौ यिविष्टाः सोऽमानवो बद्यतपूरुषः खे ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मास्ति हृदि प्रविष्टः सूत्रेण संश्लिष्टतमः शरीरे ।
शास्ता स विज्ञानमयोऽणुरूपो रुक्मप्रभस्तं मनुमाहुरार्य्याः ॥
सूर्यस्य चन्द्रस्य रसोऽथ विद्युत् प्राणा इमे वैद्युत एष नित्यः ।
उद्भिज्जवर्गे खनिजे च जन्तौ साधारणोऽन्यो खनिजे तु न स्तः ॥
यदा तु जन्तुर्म्रियते तदानीं सौरश्च चान्द्रश्च रसः पृथग्वत् ।
अप्येति योनिं स्वमतो न तस्योपचीयतेऽङ्गं परजन्म यावत् ॥
विद्युत्तुयोऽन्योस्ति तमिन्द्रमाहुः प्राणः स नित्यो न जहाति जातु ।
प्रज्ञापि सोऽप्यत्र सहैव देहे प्रविश्य कालेन सहैव यातः ॥
यस्तैजसस्तेन जलप्रवाहवत्तनुप्रवाहः क्रियते यथा तरुः ।
शाखोपशाखां सरितां समन्वयादेकेव धारा क्रियते तथा तरुः ॥

प्राज्ञयोन्याशयौ (विद्युत्स्वसूर्य्यचन्द्रस्वरसेषु)

क्षेत्रज्ञमूलास्ति हि वृक्णमूले विद्युद् रवीन्दुस्वरसे चिदेषा ।
प्रज्ञाथ वैश्वानरतैजसाभ्यां युनक्ति सा प्राज्ञ इतीममाहुः ॥
प्राणोऽयमिन्द्रस्त्रिविधोऽस्ति दब्धः शेते चिदस्मिन्नवभासमाना ।
एषां चतुर्णाममृतात्मनां यः समुच्चयः प्राज्ञ इतीममाहुः ॥

प्रज्ञानमात्मानमुवाच शङ्करस्त्वधर्माच्च कृताकृतादपि ।
विभिन्नमव्याकृतनिर्विशेषकं जीवं तु तद्भिन्नमयं विपश्यति ॥
कौषीतकिस्त्विद्रिमूलमिन्द्रं प्राणं सहप्रज्ञमभिन्नभूतम् ।
उवाच देहेन्द्रियधारकं तं देहे वसन्तं तत उत्क्रमन्तम ॥
प्रज्ञानमात्रा अपि भूतमात्रास्ताः प्राणमात्राः सह संक्रमन्ते ।
वैश्वानरात् तैजसतोऽनुषक्तं प्राज्ञं तु जीवात्मतयैव विद्यात् ॥
यो लक्ष्यते त्वक्षणि दक्षिणे द्राक् प्राज्ञोऽयमात्मा न तु सोऽस्ति सूर्य्यः।
क्षेत्रज्ञ एतेन सयुक् सदास्ति क्षेत्रज्ञमेतं प्रवदन्ति तस्मात् ॥
आचक्षते प्राज्ञमिमं तु संगाद्वामं य एवाक्षणि दृश्यते तम् ।
स वामनीर्वा स च भामनीर्वा सर्वेषु लोकेषु स एव भाति ॥
इन्द्रोऽस्ति विद्युत् तदनु प्रविष्टा चिदस्ति पार्थक्यमुत्र नास्ति ।
सत्यः स इन्द्रोऽमृतमस्य विद्वान् स दीर्घमायुर्लभतेऽमृतज्ञः ॥
कहोडकौषीतकिनाऽत्र बह्वृक् श्रुतौ यथोक्तं तदिह ब्रवीमि ।
प्रज्ञात्मकः प्राण इदं शरीरं प्रोत्थापयत्यन्त इतो गृहीत्वा ॥
प्राज्ञोऽयमालोमनखाग्रदेशानिदं शरीरं सदनु प्रविष्टः ।
आत्मानमेते सकलास्तमेवात्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा प्रभुं स्वाः ॥

प्राज्ञप्रतिष्ठा (पञ्चज्योतिरन्नवती प्रज्ञा)

प्राज्ञस्य चिद्योनिरथाशयोऽस्य प्राणोऽस्ति विद्युद्रविचन्द्रक्लृप्तः ।
यथा तथैवास्य पुनः प्रतिष्ठा ज्योतिस्तदन्नं तत एव तिष्ठेत् ॥
ज्योतिष्मयं संक्रमते चिदात्मा स प्राज्ञ आत्मा भवतीति मन्ये ।
प्रतिक्षणं ज्योतिरिदं शिरोर्द्धे प्रविश्यमानः स्थितवद् विभाति ॥
तज्ज्योतिरादित्यत एति विग्रहे चन्द्रात् तथाग्ने रथ वा च आत्मनः ।
क्षेत्रज्ञ नाम्नो महतोऽथ वा सह ज्योतींषि पञ्चेत्युपलब्धिहेतवः ॥
ज्योतिर्भ्य एभ्यो बहिरर्थयोगः स्यादिन्द्रियैरन्तरमात्मदेशे ।
प्राज्ञस्तदार्थेन युनक्ति तेन प्राहुस्तु ते प्रत्ययमिन्द्रियोत्थम् ॥
सूर्येण चन्द्रेण तथाग्निना वा रूपोदयात् पश्यति चक्षुषासौ ।
वाचा तु शब्दोदयतः शृणोति श्रोत्रेण तद्वन्मनुते मनस्तः ॥
स्पृशत्ययं जिघ्रति यद् रसं वा गृह्णाति यच्चिन्तयतीह किञ्चित् ।
यद् ध्यायतीदं सकलं मनस्तो मनो ममात्मापि च धीर्ममात्मा ॥

ज्योतींषि पञ्चापि न सन्ति यर्हि प्राज्ञस्तदा प्रत्ययते न किञ्चित् ।
प्राज्ञः स्वरूपं लभते न तर्हि स्थितोपि नाभाति यथा सुषुप्त ॥
स ज्योतिषा पर्य्ययते स आस्ते स वा विपर्य्येति करोति कर्म्म ।
इत्थं पुरात्वे जनकाय राज्ञे स याज्ञवल्क्यो भगवानवोचत् ॥

प्राज्ञस्यायतनम् ।

क्षेत्रज्ञरूपाश्रितपञ्चदेवैः प्रज्ञा विभक्ता भवतीन्द्रियाख्यैः ।
प्राणा इमे ते यदि दिव्यदेवैर्भक्ता मिथस्तर्हि भवन्ति लोकाः ॥
अग्निर्मुखे वाग् नसि वायुरेष प्राणो रविश्चक्षुरिहाक्षिणि स्यात् ।
कर्णे स्थितं श्रोत्रमिदं दिगिन्दुश्चन्द्रो परः स्नायुगतं मनः स्यात् ॥
मनस्तदाकाशमिवेतरेषामेषां चतुर्णां मनसि स्थितत्वात् ।
वाक्प्राणचक्षुः श्रुतयोऽग्निवाय्वादित्यैर्हरिद्भिश्च तपन्ति भान्ति ॥
प्राणा बहिःस्थैर्न मिलन्ति देवैर्यावन्न तावत् प्रभवन्ति लोकाः ।
त्वक्प्राणचक्षुःश्रुतिवाग्भिरेते न स्पर्शगन्धादिपरिग्रहाः स्युः ॥
बहिःस्थदेवैर्बहिरर्थयोगा न सन्ति तत्रान्तरतस्ततस्ताः ।
प्रज्ञामयप्राणकलाः प्रधाने प्राणेऽप्ययं यान्ति हि तत्र सोरे ॥
यदीन्द्रियेष्वायतनेषु दैवादात्मोत्थितप्राणसमन्वयः स्यात् ।
तेभ्यो भवेद् देवयुतिश्च देवैर्लोकास्ततो रूपरसादिबोधाः ॥

इन्द्रियप्राणानां देवात्मकता ।

यानीन्द्रियाण्यत्र भवन्ति देहे प्राज्ञस्य चैकस्य यतः प्रभेदाः ।
ते पञ्च देवा इह देहनिष्ठाः सूर्य्यात्त आदित्यदिवं प्रयान्ति ॥
क्षेत्रज्ञमात्मानमिमेऽत्र देहे पञ्चापि देवाः सयुजः श्रयन्ते ।
यथा रविं तं परितः श्रयन्ते ग्रहास्तथेदं परियन्ति देवाः ॥
प्रज्ञामयः प्राण इहेन्द्र आत्मा देवाः परे सन्ति तदिन्द्रियाणि ।
ते चाग्निवाय्वर्कदिगिन्दुमुख्या वाग्घ्राणचक्षुःश्रतिरक्तभक्ताः ॥
यानीन्द्रियाण्यत्र त एव देवा यज्ञस्य तन्वस्त इमे प्रसिद्धाः ।
यज्ञप्रजापत्यमिधः स आत्मा स सर्वदेवैः कृतरूप एकः ॥
प्रजापतिर्नाम स एष यज्ञो व्याप्नोति चालोमनखाग्रदेशम् ।
अद्धा न पश्यन्ति तमत्र गूढं देहे तु चेष्टाभिरिमं वदन्ति ॥

विज्ञानतः कामयते मनोऽथ प्राणः प्रयत्नोऽखिलमङ्गमाप्तः ।
प्राणानुसाराद्वपुषीह भूतेष्वाकम्पनं तन्मतमस्य कर्म ॥
सुप्तोऽस्ति विज्ञानमयो यदात्मा मनस्तदा कामयते न किञ्चित् ।
तत्रापि नात्यन्तमिदं विहीनं विज्ञानतश्चेतयते हि मन्दम् ॥
घोरेऽन्धकारेऽपि तथा विदूरप्रदीपतारा दिवि भास्ति लिप्ता ।
प्राज्ञे तनुव्यापिनि तद्वदल्पो विज्ञानगन्धोऽस्ति सुषुप्तिकाले ॥
नाम्ना यदाहूयत एष तर्हि प्रबुध्यते चर्मणि चाग्नियोगात् ।
इच्छन्मनः सुप्तमहाजनाय प्राणं नियुङ्क्ते हि तदा विबोद्धुम ॥

पदनीयम् ।

ज्ञानक्रियायां तु न चेन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यमेषां भवतीति मन्ये ।
पदानि चैतानि पदेषु तेषु प्राज्ञः पृथक् कर्म करोति सा धीः ॥
केचिद्विदुः प्राणमिमं तथान्ये वाचं परे चक्षुरिमं पृथग्वत् ।
अकृत्स्न एतैः स उपासते तन्न प्राण एवैष न चक्षुरेव ॥
प्राणः स चेदस्ति न तर्हि चक्षुश्चक्षुः स चेन्नैष तदात्मनोस्ति ।
यतः स तैर्नामभिरस्त्यकृत्स्नस्तस्मात् स आत्मेतिपदेन नेयः ॥
प्राणान् स हि प्राण इति प्रपन्नो वदन् स वाक् चक्षुरयं तु पश्यन् ।
श्रोत्रं च शृण्वन् मनुते मनश्चेत् तत्कर्मनामानि भवन्त्यमूनि ॥
आत्मेति चैतेन पदेन नीता वाक्प्राणचक्षुःश्रुतयो मनश्च ।
प्रत्येकभेदेऽपि स एक आत्मा पर्य्यायतः सर्वपदाधिकारी ॥
प्राणो मनो वाक् च मिथःप्रभिन्ना न त्वात्मनस्ते प्रभवन्ति भिन्नाः ।
प्राणोऽयमात्मा मन एव आत्मा वागेष आत्मेत्ययमेक आत्मा ॥

इन्द्रियप्राणानामेकभूयस्त्वम् ।

वाक्प्राणचक्षुःश्रुतयो मनश्च स्युर्देवता भिन्नतमा अपीमाः ।
अग्निस्वरूपा मनसि प्ररूढा न प्रज्ञायन्ते व्यतिरिच्य ते स्युः ॥
कौषीतकीया हि वदन्ति केचित् प्राणा निगच्छन्ति सदैकभावम् ।
श्रवाय दृष्ट्यै मननाय वक्तुं सकृन्न शक्नोति हि कश्चिदेकः ॥
वाचं वदन्तीमनु पश्यदक्षि श्रोत्रं तु शृण्वद्धि मनोऽनुचिन्तत् ।
प्राणा अशेषाः स्युरिहैकभूयं कर्मैकमेव त्विदमेकदा स्यात् ॥

न वक्ति तावच्छ्वसितीह यावत् तावन्न न प्राणिति वक्ति यावत् ।
प्राणैस्तु सर्वैः श्वसितीह तद्वत् प्राणैश्च सर्वैरयमेष वक्ति ॥
तस्मात् स एकोऽस्ति विभिन्नकर्म्मा देवास्तु भिन्नानि तदिन्द्रियाणि ।
दृष्ट्यै तु चक्षुर्वचनाय सा वाक् द्रष्टा च वक्ता च पृथक् स एकः ॥
वाग् वाच एषा मनसो मनस्तच्छ्रोत्रस्य तच्छ्रोत्रमथाक्षिण चाक्ष्णः ।
प्राणस्य स प्राण इहेति नेदं चक्षुर्न वाग् नापि मनः श्रुतिर्वा ॥

इन्द्रियप्राणेषु प्राणमुख्यता ।

मनोस्ति तत्रायतनं समेषां ज्येष्ठस्तथा श्रेष्ठ इहैष प्राणः ।
चक्षुः प्रतिष्ठास्त्यथ वाग् वसिष्ठः श्रोत्रं तु सम्पद्वपुषीति विद्यात् ॥
एषां च वाक्प्राणमनांसि मुख्यान्येषामपि प्राण इतीह मुख्यः ।
वाचो मनः श्रेष्ठमिति प्रतीमो वाङ् मानसस्यानुकरानुवर्त्मा ॥
मनस्तदाकाशमिवेतरेषामेषां चतुर्णां मनसि स्थितत्वात् ।
यः स्यादिहान्यत्रमनां न सोऽयं ब्रूयान्न जिघ्रेच्छ्रृणुयान्न पश्येत् ॥
श्रोत्रेण वाचा मनसा च दृष्ट्या विनापि शक्नोति हि जीवनाय ।
प्राणास्तु सर्वेऽपि सह व्रजन्ति प्राणे गते तेन स एषु मुख्यः ॥

प्राज्ञस्य विज्ञानमयत्वम् ।

सर्वाण्यधिप्रज्ञमिनानि भूतान्येकं भवन्तीह मनुष्यदेहे ।
प्रज्ञानमात्रासु तु भूतमात्रास्ताः प्राणमात्रासु समर्पिताः स्युः ॥
सहस्थितैस्तैः सकलैः स एकः प्राणोऽस्ति मुख्यः शिरसाभिनीतः ।
क्षेत्रज्ञ एषोऽस्ति स लोकपालः प्राज्ञो न तेनास्ति विना कदाचित् ॥

प्राज्ञस्यान्यान्यत्वम् ।

प्राज्ञो हि वैश्वानरतैजसाभ्यां सध्र्यङ् शरीप्रमितः शरीरी ।
क्षरः स भिन्नोऽस्ति शरीरभेदाद् यथा जले सूर्य्यक एवमेषः ॥
प्राज्ञोयऽमात्मा प्रतिदेहभिन्नः क्षेत्रज्ञ आत्मा त्वमृतोऽशरीरः
प्रज्ञानुबन्धादिव तस्य देहे सम्बन्ध आख्यायत एष गौणः ॥
प्राज्ञः प्रवेदादिव तत्र योनेः क्षुद्रो महान् वा भवतीति विद्मः ।
क्षुद्रस्य चाल्पेन्द्रियताऽल्पशक्तीन्द्रियत्वमप्यस्त्यधिकं महत्त्वे ॥

आपेक्षिकं प्राज्ञमहत्त्वमिष्टं नरे हृषीकाणि चतुर्दशास्मिन् ।
देवे ततोऽप्यस्ति महान् यतोऽत्राधिकानि वै सप्तदशेन्द्रियाणि ॥
प्रत्येकयोनावपि नेन्द्रियाणां साम्यं बले तत् प्रतिदेहमेषः ।
स्वल्पाधिकः प्राज्ञ इति प्रपद्यं शक्यो यथायोनि तु स प्रकर्तुम् ॥
तद्योनियोगादपि वर्द्धयते चेत् प्रज्ञः क्रियाप्रत्यययोः प्रवृद्धया ।
प्राज्ञः स्वभावात्यतयाऽन्ययोनिः स प्रेत्य भावे क्रमतेऽन्य योनौ ॥
प्राज्ञाच्छ्शस्यास्त्यधिकः प्रकृत्या प्राज्ञः शुनोऽश्वस्य तथापरस्य ।
प्रज्ञः स यद्योनिविधः कृतः स्यात् तत्रैव योनौ पुनरेति जन्म ॥

प्रत्ययवृद्धिक्रमः ।

प्रज्ञः क्रमादेष भवेत् प्रवृद्धो यथाऽधिकप्रत्यय एति वृद्धिम् ।
प्राज्ञः प्रवृद्धया तदनु प्रविष्टो विज्ञानमात्मा भवति प्रवृद्धः ॥
रवीन्दुविद्युन्मयतैजसोऽयं प्रवर्द्धयं वैश्वानरमङ्गमङ्गम् ।
उद्वर्द्धय संवर्द्धयते शरीरं यथा तथा प्रज्ञमिमं तनोति ॥
प्रज्ञैन्द्रियैर्यद्वहिरर्थजातं गृह्णाति तत्रार्थगसूर्यरश्मौ ।
अथाणुपृक्तप्रमिते दृगाप्ते स्यात् तैजसेन्दुस्वरसस्तथावत् ॥
अर्थाकृतिश्चान्द्ररसो यथा यथा संचीयते तत्र हि तैजसाशये ।
विज्ञान सांमुख्यमुपैति विद्युना स्यात् प्रत्यभिज्ञास्मृति रस्मरोऽन्यथा ॥
विज्ञानतश्चान्द्ररसेऽर्थ रूपके यावच्चिदाभास त एष उच्यते ।
प्रज्ञः स्वयंयद्यपि नैष वर्द्धते तथापि चाभास्य पदं प्रवर्द्धते ॥
आभासवृद्धया ध्रुवमस्य वृद्धिं प्रज्ञस्य विज्ञानमयस्य चाहुः ।
प्रज्ञस्य संस्कार विधा स्युरेता बन्धाय शुक्राणि यदोऽत्र कामाः ॥
कामो न चेच्छुक्र गतस्तदानीं प्रज्ञां न संस्कारचयेऽत्र बद्धः ।
अबद्ध एव प्रति वर्द्धयते चेत् प्रज्ञः स विद्याधिक एति मुक्तिम् ॥

प्रज्ञस्य नित्या गतिः ।

आनन्दविज्ञानमनोमयेभ्यः प्रज्ञः कदाचिद् व्यतिरिच्य नास्ति ।
सर्वे च कामा इह सन्ति सत्याः स सत्यसंकल्प इतः प्रयाति ॥
आनन्द विज्ञान मनो मयानां प्रत्येकमायात्यनिशं स्वयोनिम् ।
सत्यंहि तत् स्वर्गगतिश्च तैषा तेषां वियोगस्त्विह नास्त्यथापि ॥

आदाय किञ्चिज्जलपूर्णपात्रं प्रयाति दूरे यदि तत्र तोये ।
प्रतिक्षणान्यप्रतिबिम्बदृष्टिर्यथैकवद् भाति तथेह विद्यात् ॥
प्रज्ञेयतो न व्यभिचार एषां प्रज्ञार्थभागा इह वा यतः स्युः ।
मन्ये तदेवानृतमत्र तेन प्रत्यूहनात् स्वर्गगतिं न चष्टे ॥

प्राज्ञस्य सुप्तावस्थाः ।

प्राज्ञस्य सप्त प्रभवन्त्यवस्थास्ता जागृतिस्वप्नसुषुप्तयोऽन्याः ।
संमोहमूर्छामृतिमुक्तयोऽन्या उपाधियोगात् त्विह ताः समस्ताः ॥
सप्तस्ववस्थास्वपि नित्यमेष प्राज्ञोऽस्ति विज्ञानमपि प्रपन्नः ।
तत्संपरिष्वज्य स तन्नियोगादिवेह तत्तत्कुरुते स्वकर्म्म ॥

जाग्रदवस्था ।

यदा बहिर्धा करणैः स पञ्चज्योतिर्भिरादाय तथान्नमत्ति ।
तदा स जागर्ति बहिर्मुखाः स्युः प्राणाश्च विज्ञानमयं च तर्हि ॥
हृद्यस्ति विज्ञानमयो य आत्मा स्वरश्मितः प्राणकुले स गृह्णन् ।
प्राज्ञं तमर्थाकृतिभिर्भवन्तं स्वेनानुगृह्णाति स तद्विवेकः ॥

स्वप्नावस्थायां प्रथमं मतम् ।

विज्ञानमेव स्वपितीह न त्वयं प्राज्ञः सदा जागृतिवत् स तिष्ठति ।
सर्वेन्द्रियस्नाय्वसृगादिषु ध्रुवं विज्ञानरश्मिस्तु न तेषु तिष्ठति ॥
प्राज्ञो हि सर्वावयवस्पृगन्तरे विज्ञानमाश्लिष्य तदाश्रयात् स्थितः ।
प्राणान्नियुङ्क्ते च यदीहते ततः सुप्तः स्वनामश्रवणाद्विबुध्यति ॥
सुनिद्रितस्यापि तदा तनुः क्वचिद् द्विधा भवेत्कण्टकतस्तदा द्रुतम् ।
प्रबुध्यते प्रज्ञनियोजितात् तदा प्राणाद्धि विज्ञानमुपैति पूर्ववत् ॥
सर्वेषु गात्रेष्वपि जाग्रतीव स प्राज्ञः स्थितो यद्यपि जागृतः सदा ।
तथापि नार्थेषु बहिश्चरेत्तदा नवान्तरे तत्र स सुप्त उच्यते ॥
जीवस्य विज्ञानमये यदप्ययं केचिद्विदुस्तत्तत एव नेष्यते ।
प्राणे तु सत्यस्य तदा स्थितिं विदुर्नाडीषु चैतस्य न रूपविच्यवः ॥

मतान्तरम् ।

इत्यवमेकः प्रतिपद्यते परस्त्ववैति हंसात्मनि नित्यजागृतिम् ।
प्राज्ञस्तु विज्ञानमयेन सर्वदा युनक्ति जागर्ति सह स्वपित्यपि ॥

प्राणेभ्य आत्मानमपीन्द्रियेभ्यः स्वेनोपसंहृत्य हृदि स्थितेऽस्मिन् ।
प्राज्ञः स विज्ञानमये तदानीमेकी भवत्यात्मनि चेत् स्वपन् स्यात् ॥
हृद्येष विज्ञानमयो निविष्टः प्राणेभ्य एभ्यो हरति स्वरश्मीन् ।
वाक्प्राणचक्षुःश्रुतयो मनश्च प्राणा गृहीताः स्युरिहैव तर्हि ॥
प्राणान् गृहीत्वेव सन्नृनपालो नियच्छति स्वे हृदि तत्र चैषः ।
प्राज्ञः स विज्ञानमयात्मनोऽन्तर्ज्योतिर्गृहीत्वैव करोति कर्म्म ॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वमिति प्रसिद्धस्तत्राप्ययात् स्वाप्ययशब्दसिद्धौ ।
परोक्षक्लृप्त्यै स्वपन ब्रुवाणः स्वापश्च तद्वत् स्वपितीति वक्ति ॥
प्राज्ञः स्वपित्यत्र तदास्य लोकः स्यादाय सर्वावत एव मात्राम् ।
विहत्य निर्माय च तत्र सर्वं स्वज्योतिराभासयते स्वभासा ॥
❀न तत्र पन्था न रथा न लोका न पर्वतग्रामपुरीवनानि ।
सर्वं सृजत्येष यथेच्छमस्मिन् द्रष्टा च कर्ता च स एष एकः ॥
प्राज्ञो हि यां जाग्रति सृष्टिमीक्षते सा चेश्वरेणैव कृता न जीवतः ।
स्वप्ने तु या सृष्टिरियं तु जीवतो निर्मीयते कामवशाद् विलुप्यते ॥
रामानुजो वक्ति तु पारमेश्वरीं स्वप्नस्थसृष्टिं न स साधु पश्यति ।
विश्रृङ्खला प्रत्ययभेदबाधतः सा जीवकर्म्मानुगतास्ति नैश्वरी ॥
आत्मानमावेश्य शरीरसंस्था निर्म्मात्यनावेश्य तु भूतसंघान् ।
वैज्ञानिकी तत्र शरीरसंस्था संस्कारसिद्धा ननु भौतिकी सा ॥
द्रष्टा स आत्मा त्विह सन्निदध्यान्न चेत् तदा किञ्चिदपीह न स्यात् ।
ध्रुवं स तेष्वस्ति निरिन्द्रियेषु सन्तीन्द्रियाण्यत्र विलक्षणानि ॥
सूक्ष्मेन्द्रियत्वात्तु निरिन्द्रियत्वं ब्रूमो न तेषां तदभाव एव ।
सर्वं हि भुङ्क्ते स्वपिते प्रयाति प्रबुध्यते श्लिष्यति भिन्नरीत्या ॥
आभासमात्रं सकलं जगत्तत् स्वाप्नं न किञ्चित्परमार्थतोस्ति ।
देशाधिकत्वाद् बहुभिन्नकालादनिन्द्रियत्वात् प्रतिबाधतश्च ॥
घ्नन्तीव यत्रैनमथो जिनन्ति वा हस्तीव विच्छाययति क्वचिद्वा वा ।
पतत्ययं गर्तमभीव वा क्वचित् सोऽविद्यया तत्र भयेन युज्यते ॥
धन्यान्यधन्यानि च भासनानि तान्यदृष्टकर्म्मोपनतैर्वलैर्विदुः ।
अवस्तु तद्वस्तु सते भविष्यते फलाय संसूचकमस्ति मायया ॥

❀न तत्र पन्था न रथा न योगा न पुष्करायः सरितः सरांसि ।
सर्वं सृजत्येव यथेच्छमस्मिन् द्रष्टा स एवास्त्यखिलस्य कर्ता ॥

स्वप्नं जगद्देहगतं न तद्बहिः शरीरतः संभवति कंचित्पृथक् ।
शरीरतो निर्गमने तदात्मनः पूयेत कायो मृतवत् द्रुतं भवेत् ॥
बहिःकुलायादमृतश्चरित्वेत्याहुर्बहिः स्वाप्नंजगद् विदन्तः ।
बहिर्यदाभासत एव मायावशादिदं किन्तु नं तद्बहिः स्यात् ॥
प्राज्ञस्थमध्यात्ममिदं नु विद्यादध्यासमात्रं भ्रमवत्प्रक्लृप्तम् ।
शुक्तौ यथारूपमिदं तथास्मिन् प्राज्ञं जगत् संस्करणाद्विभाति ॥

स्वप्नावस्थायां द्वितीयमतम् ।

ते याज्ञवल्क्यादय आहुरित्थं तथोच्यतेऽन्येन च भिक्षुसूत्रे ।
चिरन्तनाः केचन तद्बहिर्धा शरीरतः स्वाप्नजगद्वदन्ति ॥
"स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः ॥"
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पूरुष एक हंसः ॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षद्रुतेवापि भयानि पश्यन् ॥
अस्मिन्मतेऽस्त्यत्र विभिन्न आत्मा हिरण्मयः कश्चन हंस एकः ।
वायुर्नुहंसः स हि वायुदेहः स्वभावतः सोऽस्ति बहिश्चरिष्णुः ॥
यथात्मनो मानुषतोऽन्य आत्मा यज्ञेन दैवो भवति स्वतन्त्रः ।
जन्मप्रहात् तद्वदयं तु हंसः संपद्यते कोऽप्यपरः पृथग्वत् ॥
व्यानोऽयमात्माऽखिलदेहसंस्थो भूत्वा ततः केपि रसाः पृथग्वत् ।
कृत्स्नस्य मात्रा वपुषा गृहीत्वा वायव्यदेहं जनयन्ति न व्यय ॥
यथात्मवर्गोऽत्र तथा स तत्र प्रायेण वायव्यशरीरमित्थम् ।
भौमाच्छरीरात्पृथगुद्भवत् सद् भोमे स्थित जीवत एकवत् स्यात् ॥
वायव्यदेहः स हि हंस आत्मा विहर्तुकामो बहिरेति देहात् ।
सर्वेन्द्रियं प्राज्ञमभिप्रहत्या विद्यां नयन् संचरति स्वतन्त्रः ॥
हंसो यदा गच्छति देहतो बहिस्तदा शिरोरक्तमपि श्लथायते ।
संज्ञावहस्नायुषु मूर्छनावशाद् बाह्येन्द्रिये ज्ञानविधिर्निरुच्यते ॥
हंसो बहिर्यद्यपि देहतश्चरत्यथापि नाभिर्बहिरेति देहतः ।
स हन्ति रक्षांसि पवित्रतोऽप्ययं युङ्क्ते ततो नास्य तनुस्तु पूयते ॥

"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्योषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृता स इद्वहन्तः सं तदासत ॥"
ज्योतींषि पञ्चास्य स तत्प्रकाशे प्राज्ञोऽखिलार्थानभिपश्यतीह ।
तेषां न योगोस्ति पृथक्स्थहंसे प्राज्ञः स नाज्योतिषि वीक्षतेऽर्थान् ॥
हृद्ये व विज्ञानमये त्वपीतः प्राज्ञस्तदावेदयते न किञ्चित् ।
हंसे पुनः स्थानमिते ततोऽस्मिन् ज्योतिर्वपुष्याविशति प्रबुद्धयै ॥
प्राणो हि मुख्यो न जहाति देहं हंसो बहिः सञ्चरति क्व चापि ।
सूत्रेण बद्धः स बहिः स्वतन्त्रैः स्वकल्पितैर्वात्मभिरेति योगम् ॥
गन्धर्वजीवा विचरन्ति केचिल्लोकेऽन्तरिक्षे किल चन्द्रतोऽर्वाक् ।
तल्लोकमागत्य समेत्य चैतैर्हंसस्तदा पश्यति सत्यमर्थम् ॥
सौरे यथा ज्योतिषि जाग्रदर्था इमे प्रसिद्ध्यन्ति तथैव चान्द्रे ।
सूर्यप्रभामस्पृशति प्रकाशे स्वाप्नं जगच्चन्द्रकृतं प्रतीमः ॥
पूर्वं मृतास्तादृशसर्वजीता हंसात्मना तत्र चरन्ति लोके ।
वायव्यदेहा अत एव सद्यः पश्यन्ति तेषां परिवृत्तिमङ्गे ॥
भौमे शरीरेऽपि नृणां कदाचिद् वायव्यजीवाः प्रविशन्ति केचित् ।
आत्मानमाक्रम्य नरस्य देहे गन्धर्वमाविष्टमनेकदाहुः ॥
स्वप्ने बहिर्भूतमिमं च हंसे समेत्य ते तस्य भविष्यदर्थम् ।
वदन्ति विज्ञा अशुभं शुभ वा दुष्टैस्तु जीवैः कथितं न सत्यम् ॥
दूरं क्षणाद् गच्छति चान्यदन्यद् भवेत्क्षणं पश्यति वर्षपूगान् ।
वायव्यजीवानुगतस्य लोकस्यैते भवेयुर्नु विशेषधर्म्माः ॥
स्वप्ने प्रदृष्टं जगदस्ति सत्यं सर्वस्य तत्रैति मृतस्य हंसः ।
हित्वा वपुर्भौममुत्र हंसे गतेऽन्य आत्मान इतः प्रयन्ति ॥
प्राज्ञादयो हंस इदं शरीरं सूत्रेण यावद् ग्रथितानि तावत् ।
हंसे गते प्राज्ञ इहैव शेते वैश्वानरस्थः स बहिर्न याति ॥
हंसो यदास्माद्वपुषस्तु सूत्रं विहत्य निर्याति बहिस्तदानीम् ।
प्राज्ञादिरुत्क्रामति देहतोऽस्माद् विस्रस्तसूत्रःस्वगतिं गतः स्यात् ॥
गन्धर्वलोकोस्ति हि चन्द्रभास्थस्तत्रास्त्यपंचीकृतपञ्चभूतैः ।
वायुप्रधानै रचितं शरीरं प्रायेण तत्रापि तथा यथात्र ॥
गन्धर्वलोकानुगतोऽयमर्थःसर्वोपि कस्यापि न दृष्टियोग्यः ।
न युक्तिगम्योऽस्ति चिरंतनानामनेकधा प्रत्ययतोऽस्ति सिद्धः ॥

अयुक्तमर्थं तु चकार शङ्करः शारीरशब्देन शरीरमाह यः ।
मतं तिरोधाय वृथा समञ्जसं कुर्वन् बहिर्हंसपदे बलाद् वहन् ॥

सुषुप्त्यवस्था ।

प्रज्ञा मता पञ्चविधाऽथ पञ्चप्राणैः प्रगृह्णाति च पञ्चधार्थान् ।
एतत् त्रिकं पञ्चविधं समष्ट्या प्राज्ञः शिरोहृत्खकुलाधिकारी ॥
विज्ञानसंकोचवशात्तु खेभ्योऽपकृष्य हृद्येव यदा स्थितः स्यात् ।
प्राज्ञः स विज्ञानमये प्रकाशे सृष्टिं चरेत् स्वप्नदशा तदा स्यात् ॥
अथैष विज्ञानमयो यदानीं कामानशेषानपि हातुमिच्छन् ।
संपर्कमेभ्यः परिहाय शुद्धः प्राज्ञानुषक्तोऽस्ति तदा सुषुप्तिः ॥
प्राज्ञेन तेन त्वनुषक्तिरस्य स्यादेव तत्रापरथा सुषुप्तौ ।
आनन्दमात्रानुभवोपि न स्यान्नवाऽनुभूतस्मृतिरुत्तरं स्यात् ॥
खं वै परात्मास्ति तदाप्ययात् स्याद्विज्ञानमात्मा स्वपितीति भाषा ।
विज्ञानमात्माप्ययमुच्यते स्वं प्राज्ञात्मनः स्वाप्ययनात् सुषुप्तिः ॥
विज्ञानमेव स्वपितीह न त्वयं प्राज्ञः सदा जागृतिवत् स तिष्ठति ।
सर्वेन्द्रियस्नाय्वसृगादिषु ध्रुवं विज्ञानरश्मिस्तु न तेषु तिष्ठति ॥
प्राज्ञो हि सर्वावयवस्पृगन्तरे विज्ञानमाश्लिष्य तदाश्रयात् स्थितः ।
प्राणान्नियुङ्क्ते च यदीहते ततः सुप्तः स्वनामश्रवणाद्विबुध्यति ॥
सुनिन्द्रितस्यापि यदा तनुः क्वचिद्विद्धा भवेत्कण्टकतस्तदाद्रुतम् ।
प्रबुद्ध्यते प्रज्ञनियोजितात् तथा प्राणाद्धि विज्ञानमुपैति पूर्ववत् ॥
सर्वेषु गात्रेष्वपि जाग्रतीव स प्राज्ञः स्थितो यद्यपि जागृतः सदा ।
तथापि नार्थेषु बहिश्चरेद् यदा न वान्तरे तत्र स सुप्त उच्यते ॥
श्येनादयो यद्वदिहान्तरिक्षे यथा सुखं व्यापरिपत्य भूयः ।
श्रान्तानुसंहत्यपतत्रकं सल्लयाय कामं नितरां ध्रियन्ते ॥
प्रज्ञानमात्मापि तथैव जाग्रति स्वप्नेऽपि वा भूरि विहृत्य कामतः ।
श्रान्तस्तदन्ताय विधावति स्वयं स्वप्नो न यत्रास्ति न चास्ति जागरा ॥
सुप्तः परैकत्वमितः पुनर्यदा प्रबुध्यते तर्हि स एव जायते ।
कर्म्मैकतानः स्मरणाच्च मोक्षणाभावात् तदर्थविधिशास्त्रदर्शनात् ॥
जीवस्य विज्ञानमये यदप्ययं केचिद्विदुस्तत्तत एव नेष्यते ।
प्राणे तु सत्यस्य तदा स्थितिं विदुर्नाडीषु चैतस्य न रूपविच्यवः ॥

मोहमूर्छावस्था ।

मुग्धेऽर्द्धसम्पन्ननु भिक्षुसूत्रेणाख्यायते तत्र हि जाग्रतीव ।
भूतेन्द्रियेष्वेव सतोपि तत्र स्तम्भादिवत्स्वप्नवदप्रबोधः ॥
पथेषुकारस्य कृतैकतानध्यानस्य नान्यत् प्रतिभाति तद्वत् ।
नात्यन्तशोकानुभवैकतानध्यानस्य कुत्रापि मतिः स मोहः ॥
अन्धे तमस्यागतधीरविद्यामात्यन्तिकीं प्राप्य विलुप्तवृत्तिः ।
न चेष्टते किञ्चन चेत्तदानीं तां मूर्च्छनामाह दशां मनुष्यः ॥
प्रज्ञा यदि स्तब्धगतिर्न वृत्तिं प्रत्येति नात्मानमथो न चार्थम् ।
स मोह उक्तोऽथ विलुप्तवृत्तिस्तमोऽभिभूता यदि तर्हि मूर्छा ॥
प्राणः स्थिरप्रज्ञनियुक्त एतद्देहं विधर्तुं क्षमते तु मोहे ।
निकृत्रभावात्तु पतेत् स देहः प्राणे स्थितेऽप्यस्य तदास्ति मूर्छा ॥
आनन्दमग्नोस्ति निजप्रकाशः क्लमं जहात्येष सुषुप्तिकालः ।
सुखं तदुच्छ्वास उदेति शान्तिः प्रसन्नता चास्य मुखे विभाति ॥
दुःखौघमग्नोऽस्ति तमोऽभिभूतो वैकल्यमायाति स मूर्छितश्चेत् ।
विस्फारिनेत्रे वपुषि प्रकम्पो नोच्छ्वास आस्यं च भयावहं स्यात् ॥
परे तु केचिद् ब्रुवते शरीरे प्राज्ञस्य तस्यावसथास्त्रयः स्युः ।
मोहश्च मूर्छा च न भिद्यतेऽर्थः स्वप्ने सुषुप्तौ च तयोः प्रवेशात् ॥
देहाद्बहिर्धा विषयान् भुनक्ति प्रजागरेऽयं बहिरिन्द्रियस्थः ।
तदैष सर्वायतनप्रतिष्ठो ज्योतींषि पञ्चात्मनि चान्वियन्ति ॥
यदैष सर्वायतनेषु योगं त्यक्त्वा स्वरूपस्थितमात्र एकः ।
सुषुप्तिरेषाऽथ तयोश्च सन्धौ स्वप्नस्तदित्थं त्रिविधा प्रतिष्ठा ॥
प्रजागरस्वप्नसुषुप्तयस्त्रिवमास्तिस्रोपि साकं प्रभवन्ति जाग्रति ।
स्वप्नः स चेद् द्वे भवतोऽप्रजागरे सुषुप्तिरद्वन्द्वसहाऽसहायिनी ॥
स्वप्नः स चेदस्पृशतो बहिर्जगद् यद्ध्यायतोऽन्तः स्फुरतीह चिन्तया ।
आत्मा मनश्च द्वयमत्र संहितं स्याद् व्यापृतं खानि तु नेशते बहिः ॥
अजाग्रतश्चिन्तयतः स्युरुल्वणान्येतानि रूपाणि बहिःस्थरूपवत् ।
चान्द्रे च भूज्योतिषि मानसे यतस्तज्ज्योतिराभाति निशीव तत्क्षणे ॥
बहिर्जगद्भासकतेजसाऽञ्जसा स्पृष्टं मनः स्यादभिभूतमप्रभम् ।
दिवेव चन्द्रस्तत एव जाग्रतो ध्यानार्थरूपं प्रतिभाति नोल्वणम् ॥

स्वप्नः स मोहो भवतीह जाग्रतो मूर्च्छा सुषुप्तिर्भवतीह जाग्रतः ।
तुल्या सुषुप्त्योस्तु तमःप्रघर्षणं पित्ताच्च दोषाच्च निमित्तभिन्नता ॥
मृत्युश्च मुक्तिश्च यथास्य जायते तथोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यते ।
षट्स्वप्यवस्थासु परिभ्रमे बलात् स्वकर्मणा यावदयं न मुच्यते ॥

आत्मशास्त्रसमन्वयः,

आचार्यपार्थक्यवशात् तु लोके शास्त्राणि यान्यत्र पृथक् प्रथन्ते ।
तान्येकशास्त्रस्य हि सन्ति खण्डान्येतानि भिन्नानि न शास्त्रभेदः॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा च महांश्च यत्र व्याख्यायते तत् खलु सांख्यशास्त्रम् ।
भूतात्मनो यत्र निरूपणं स्यात् तन्न्यायवैशिषिकशास्त्रमाहुः ॥
नैयायिकाः केचन सन्ति नव्या जीवाद्विभिन्नं विदुरीश्वरं ये ।
क्षेत्रज्ञमेवेश्वरमाहुरेते यमीश्वरं वास्तविकं तद्ब्रह्म ॥
आनन्दरूपोऽथ परोरजा यः परश्चिदात्मा तमिमे विदन्ति ।
वेदान्तिनः किन्तु तमेकदेशं व्याचक्षते सर्व इमे तु सत्याः ॥
क्षेत्रज्ञमेतं च महान्तमेतं चातिष्ठमाना अपि किन्तु सांख्याः ।
इन्द्रात्म[1]भूतात्म[2]परात्मनां[3] चेद् वैयर्थ्यमाहुर्ननु साहसं तत् ॥
भूतात्मना सर्वजगत्प्रसिद्धिं वैशिषिका अभ्युपगम्य यद्वा ।
क्षेत्रज्ञदेवेन्द्रमहत्परात्मत्यागे प्रवृत्ताः स्युरिदं न युक्तम् ॥
वेदान्तिनो निर्गुणनिर्विशेषःखण्डात्ममात्रप्रतिपत्तिहेतोः ।
न चात्मनोऽन्यान् प्रतियन्ति कांश्चिन् तस्यैकदेशीयधियो विनेयाः ॥
आत्मान एते विभवन्ति देहे सर्वेपि तान् ये पृथगुन्नयन्ति ।
तेषां पृथक् तैर्वचनैः कृतार्थं तदेकशास्त्रं बहुखण्डमूह्यम् ॥
वागेव भूतानि तदन्तरस्ति प्राणस्तदन्तर्मन एतदास्ते ।
तदन्तरे चित् सकलं तदेतत् भूते लभे नान्यदितोऽस्ति किञ्चित् ॥
इत्थं कणादः स उलूकनामा भूतेषु तानात्मन एव सर्वान् ।
निवेश्य नैतान् पृथगात्मभूतान् ब्रवीति चेत् तर्हि तदस्ति सत्यम् ।
ज्योतिर्मनो वाक् तम एष चान्यः प्राणोऽस्ति सान्ध्यः स इति त्रिमूर्तिः।
महानिवास्तेऽथ परश्चिदात्मा स पूरुषो नान्यदितोऽस्ति किञ्चित् ॥
इत्थं महर्षिः कपिलः समस्तांस्तानात्मनः पुंप्रकृतिद्वयेऽस्मिन् ।
निवेश्य नैतान् पृथगात्मभूतान् ब्रवीति चेत् तर्हि तदस्ति सत्यम्॥

सत्यस्य सत्येऽस्ति परात्परो यः स्वभावतः स द्विविधो बभूव ।
माया तु मृत्युर्बहिरर्द्धमस्यान्तरेऽमृते ब्रह्म तदस्त्यचिन्त्यम् ॥
बहिस्तदर्द्धं त्रिविधं मनश्च प्राणश्च वाक् चेत्यथ वाग्विकाराः ।
विश्वं न चातः परमस्ति किञ्चिद् ब्रह्मैव मायामयमस्ति सर्वम् ॥
इत्थं विदित्वोपनिषद्रहस्यं द्वैपायनः कृष्ण इमान् पृथगूचत् ।
यद्यात्मनोऽनभ्युपयन्नुवाचैकात्म्यं ध्रुवं तर्हि तदस्ति सत्यम् ॥
लोकप्रवृत्तिर्भवति त्रिपर्वा तद्दर्शनं ज्ञानमथो चरित्रम् ।
स्याद्दर्शनं तत्र च पूर्वमङ्गं चरित्रमस्त्युत्तरमङ्गमेतत् ॥
विज्ञानसम्पादकमेतदादौ स्याद्दर्शनं ज्ञानफलं चरित्रम ।
सांख्यं तु यद्दर्शनमस्ति तस्य ज्ञानेन यत्साध्यमयं स योगः ॥
यद् ब्राह्मणं शास्त्रमिह त्रिकाण्डं वाक्यार्थबोधोऽस्य यथा विधेयः ।
न्यायस्तथा तस्य निदर्शितो यस्तदस्ति मीमांसनशास्त्रयुग्मम् ॥
तद्दर्शनं नास्ति च एष तर्कन्यायः कथाशास्त्रमिदं पृथक् तत् ।
कथाक्रमे षोडश ते पदार्थाः स्युर्योजिता नो जगदैतदात्म्यम् ॥
शास्त्रं त्रिधैवास्ति तु कर्मवादोऽपि ब्रह्मवादोऽप्युभयप्रवादः ।
असन्मतं सत् सदसम्मतं वा नातः परं शास्त्रमिहास्ति किंचित ॥
ये कर्म्मवादे कतिचित् प्रवादाः सर्वैरमीभिस्तदिहैकशास्त्रम् ।
स्युर्ब्रह्मवादेऽपि बहुप्रवादास्तैरप्यमीभिः कृतमेकशास्त्रम् ॥
यदत्र लौकायतिकं यदन्यत् स्याद्वादिकं माध्यमिकं यदन्यत् ।
वैनाशिकं यत्पुनरत्र सौत्रान्तिकं च वैभाषिकमन्यदाहुः ॥
वैनाशिकस्यैव तु पूर्णशास्त्रस्यैतानि खण्डानि पृथग् वदामः ।
वैभाषिके सद्वचनेऽपि गौणो वादः स मुख्यस्त्वसतः स वादः ॥
वैशेषिक प्राकृतिकं यदन्यच्छारीरकं तद् ध्रुवमेकशास्त्रम् ।
स द्वादशास्त्रस्य विभिन्नखण्डान्येतानि भिन्नात्मनिरूपणानि ॥
यो ब्रह्मणः कर्म्मणि भक्तिवादो यः कर्म्मणो ब्रह्मणि भक्तिवादः ।
तदन्यशास्त्रं सदसत् प्रवादादुपासनाशास्त्रमिदं वदन्ति ॥
यत् कर्म्मणो ब्रह्मण एव वा यद् विज्ञानमद्वैतमिदं द्विधास्ति ।
उपासनाशास्त्रमिदं तु कर्म्म ब्रह्माश्रितं द्वैतमतं प्रतीयात् ॥
असन्मतं नास्तिकशास्त्रमाहुस्तथास्तिकं सन्मतमाहुरार्य्याः ।
किमत्र सत्यं न तदत्र कश्चिच्छक्नोति निर्धारयितुं मनुष्यः ॥

ते ब्राह्मणा ये तु महर्षयः प्राग् ब्रह्मैव निर्द्धारितमर्थमूचुः ।
वयं च तन्निश्चयमेव सत्यं प्रपद्यमानाः स्म इति स्म विद्यात् ॥

असन्नेव स भवति असत् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

॥ इत्यात्मशास्त्रसमन्वयः ॥

इत्यात्मपरिच्छेदः पञ्चमः समाप्तः ।



गत्याश्रयाणामात्मनां प्रतिपत्तिः ।

गतेराश्रयरूपाभ्यां भेदैर्हेतुभिरध्वभिः ।
लोकैर्गत्यपवर्गेण गतिविद्यानिरूप्यते ॥

भूतानि देवाः पितरोऽसुरा वा गन्धर्वभेदाः पशवश्च केचित् ।
संपत्य हृद्ग्रन्थिभिरन्विताः स्युः सूत्रात्मबद्धाश्च स एष देहः ॥
स यावतां सञ्चय एष कायस्तेषां द्विवर्गोऽत्रविभाग इष्टः ।
बहिस्तु भोगायतनं शरीरं भोक्ताऽन्य आत्मा परिचालकोऽन्तः ॥

भूतग्रामः पृथगिव शरीरमाख्यायते तत्र ।
आत्मग्रामः पृथगिव तदन्तरे भाति तन्त्रायी ॥

संयुज्यते यः स वियुज्यते ध्रुवं विश्लेषणं यान्ति ततोऽखिला इमे ।
विस्रस्य विस्रस्य रसः पृथग् भवन् स्वं स्वं स योनिं प्रतियाति सर्वतः ॥
देवाः पृथग् लोकत एत्य देहे समुच्चिताः सन्ति ततः पृथग्वत् ।
स्तोमाः समं षोडश सन्निपत्य स्तोमं यमेकं ययुरेष देहः ॥
स्तोमः शरीरं प्रथमो बहिर्धा बद्धैर्मिथः पञ्चभिरेष भूतैः ।
स्तोमास्ततः पञ्चदशान्तरन्ये त एत आत्मान इति प्रसिद्धाः ॥
वैश्वनराज्जीवति धातुजीवः स तैजसाज्जीवति मूलजीवः ।
ताभ्यां 'युताज्जङ्गमजीव' एषः प्रज्ञानतो जीवति मातृकः सः ॥
वैश्वानरे तैजस एति बन्धं प्रज्ञानहृद्ग्रन्थिमुपैति तस्मिन् ।
हृद्ग्रन्थिबन्धात्त्रिभिरेक आत्मा जीवोऽग्निवारिन्द्रमयः प्रयाति ॥
वैश्वानररेणैककलोऽयमग्निना स तैजसेन द्विकलः स वायुना ।
प्रज्ञेन्द्रयोगात् त्रिकलः स कृत्स्नतामायाति स प्राज्ञ इतीह कथ्यते ॥

प्राज्ञोऽग्निवाय्विन्द्रमयः स आत्मा त्रेधा भवत्यावपनप्रभेदात् ।
स्थूले शरीरे परिणम्यमानं बाह्यं शरीरात्मतया तमाहुः ॥
अग्नेः शरीरेऽन्तरतः शरीरं वायव्यमाहुस्तदिहान्तरिद्यम् ।
तस्मिन् शरीरे परिणम्यमानः प्राज्ञः स हंसात्मतया प्रसिद्धः ॥
वायोः शरीरेऽन्तरतः शरीरं दिव्यं यदैन्द्रं कृतकर्मचित्रम् ।
तस्मिन् शरीरे परिणम्यमानः प्राज्ञः कर्मात्मतयाऽनुभूतः ॥
पृथ्वी श्रुता पञ्चचितिश्चितिद्वयी या सन्धिगा सेयमुपेक्ष्यते त्विह ।
यदग्निवाय्विन्द्रकृता चितित्रयी चित्यं शरीरं त्रिविधं भवत्यतः ॥
चित्याग्निमर्त्यैस्त्रिभिरग्निभिश्चितान्यायान्ति बाह्यान्तरसंस्थया स्थितम् ।
प्राज्ञोऽयमात्मा त्रिषु तेषु धीयते समं शरीरेष्वमृतत्रयाकृतिः ॥
प्राज्ञः स यो बाह्यशरीरनिष्ठितः शरीरभूतानि यथाऽस्य पञ्चताम् ।
आयान्ति देवा अपि तद्विदात्मनः पञ्चत्वमेवेह न कर्म्मणो गतिः ॥
प्राज्ञोऽप्यहं सात्मतया प्रसिद्धो बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा ।
बहिःशरीरापगमे स्वतन्त्रो भूमौ चरत्येष न याति लोकान् ॥
प्राज्ञस्तु कर्मात्मतयोदितो यः स कर्म्मसारः कृतकर्म्मकायः ।
यावन्ति कर्माणि कृतानि तेभ्यो वशीकृतः प्रैति सचिन्तलोकान् ॥
कर्मात्मने द्वे प्रवदन्ति रूपे यौ मानुषात्मा सहि कर्मयोगात् ।
उच्चावचान् दुःखसुखानुकूलान् प्रयाति लोकानिति तावदुक्तम् ॥
यश्चाहिताग्निर्यजमान आत्मा यज्ञप्रभावात् प्रभवत्यमुष्मिन् ।
देवोऽयमात्मा स हि देवनीतः संवत्सरं स्वर्गमवश्यमेति ॥
वैश्वानरे तैजस एवमस्मिन् प्रज्ञा च यावन्न कथंचिदेयात् ।
हृद्ग्रन्थिमद्बन्धनसंविमुक्तिं तावन्निवर्तेत न लोकयात्रा ॥
वैश्वानरस्तैजस एष यज्ञस्त्रिभिर्य आख्यायत एक आत्मा ।
अर्वाक् तु वैश्वानरबन्धमोक्षात् स एष लोकान् विविधान् प्रयाति ॥
यो मौलिकानामपि यौगिकानां हृद्ग्रन्थिभिर्भूरिपदैः स्थितानाम् ।
व्यूहोऽस्ति तं देह इति ब्रुवन्ति ग्रन्थिर्ध्रुवं मुच्यत एव काले ॥
योंऽशोस्य हृद्ग्रन्थिविमोकमुक्तो विस्रस्यते प्रैति निजं स योनिम् ।
एषा गतिस्तामिह दर्शयामो योनिप्रभेदात् गतयो विभिन्नाः ॥

गतिरूपे-आत्मनां स्वयोनिप्रतिपत्तेर्गतित्वम् ।

आत्मा द्विधा कश्चन मुख्य एको नासौ कचित् प्रति विभुत्वहेतोः ।
गत्याश्रयोऽन्यस्तु स आत्मवर्गो यः स्वं प्रति प्रेत्य वयुत्ययोनिम् ॥
गतिः स्वयोनिप्रतिपत्तिरिष्यते आत्माऽखिलः स्वं प्रतियोनिमृच्छति ।
यो यस्य कश्चित् प्रभवः स आत्मनः परायणं तस्य ततोऽस्ति सा गतिः ॥
गतिः स्वयोनिप्रतिपत्तिरस्तिता स्वाभाविकी सा गतिरस्ति वस्तुनः ।
अन्या गतिर्नोदनया तु कर्म्मणः सा नोदना या उपपद्यते दिशि ॥
यदा चिनोत्यात्मनि कर्मदैवतांस्तत्कर्म पुण्यं तत ऊर्ध्वतो गतिः ।
चीयन्त आत्मन्यसुरा यतोऽधिकं तत् कर्म पापं तत एत्यधोगतिम् ॥
उत्क्रम्य पृथ्व्या दिशमेति भास्वतो दैवी गतिः सोर्ध्वगतिश्च भास्वती ।
सूर्य्याद् विरुद्धां दिशमेति चेद् गतिः सैषाऽऽसुरी स्यादधरा च तामसी ॥

गतिभेदाः ।

नित्या गतिः कालगतिर्गतिर्द्विधा नित्यैकधा यज्ञगतिः प्रवाहिणी ।
कालेन बद्धे खलु पञ्च ते त्रिधा मुक्तिश्चतुर्धा गतिरत्र संसृतिः ॥
विस्रस्तिसमवलश्चोत्क्रान्तिश्चेति वा गतिस्त्रिविधा ।
विस्रस्तिर्नित्यगतिर्यज्ञगतिः सा प्रवाहगतिः ॥
समवलयोऽनुत्क्रान्तिर्ब्रह्मापीतौ द्वयोश्च पञ्चतयोः ।
उत्क्रान्तिस्तु द्विविधा संसृतिमुक्तिप्रभेदाभ्याम् ॥
दश ताः सर्वा गतयः कालगतौ द्वे तु पञ्चत्वे ।
भूतानां स्थूलतनौ सूक्ष्मतनौ देवतानां च ॥
सद्यःक्रमाच्च मुक्तिः क्रममुक्ती द्वे पराऽपरा चेति ।
भूमोदर्क-क्षीणोदर्कौ कैवल्यनिर्वाणौ ॥
द्वे तु परे अपरे अपि कामप्राशोकमहिमे द्वे ।
ते ज्ञानिनामथान्या उपासकानां चतस्रः स्युः ॥
सालोक्यं सामीप्यं सारूप्यं यच्च सायुज्यम् ।
अपुनर्म्मारा एताः सर्वास्तस्माद् विमुक्तयो नवधा ॥
द्विविधा संसारगतिः संपरायश्च प्रेत्यभावश्च ।
अन्यत्र संपरेताः प्रेत्य भवन्तीह ते पुनः पृथ्व्याम् ॥

त्रिविधा संसारगतिः संपरायश्च प्रेत्यभावश्च ।
देवा दिवि पितरस्तेऽन्तरिक्ष इह मानुषाः पृथ्व्याम् ॥
दैवे पित्र्ये स गच्छति स देवयानाच्च पितृयणाम् ।
अग्निः स देवयानः पितृयाणः सोम आदिष्टः ॥
द्विविधः स देवयानो ब्रह्मपथो यश्च देवपथः ।
पितृयाणोऽपि द्विविधः पित्र्यपथो यमपथश्चेति ॥
ब्रह्मपथे क्रममुक्तिर्देवपथे सप्त दैवतस्वर्गाः ।
पित्र्यः स्वर्गः पित्र्ये त्रयोऽथ सप्तेह यमपथे नरकाः ॥
अष्टाविंशतिरथवा नरकास्ते चतुरशीतिरथवा स्युः ।
सप्त त्रिधा चतुर्धा द्वादशधा वा विभज्य वाह्यन्ते ॥
प्रेत्य भवन्ति तु मानुषलोकेऽमी चतुरशीतियोनिषु च ।
अपि चतुरशीतिलक्षाण्याहुस्तद् बृंहणं तेषाम् ॥
इति संसारगतीनामेकशतं मुक्तयस्तु नव ।
द्वे पञ्चत्वे द्वादशशतं ततः कालगतयः स्युः ॥

नोटः—स्थानाभाव के कारण नक्शा आगे दिया जाता है।

१	नित्यगतिः		१ विस्रस्तिः (संसृप्तिः)	
२	कालगतिः	१	१ भूतपञ्चत्वगतिः	
३	....	२	२ देवपञ्चत्वगतिः	
४	अनुत्क्रान्तिः	१	३ सद्योमुक्तिः । समवलयः । निर्वाणम्	१
५	उत्क्रान्तिः	२	४ क्रममुक्तिः = परा मुक्तिः = कैवल्यम् = भूमोदर्कः	२
			५ निर्वाणम् = क्षीणोदर्कः	३
६	... ...	३	६ अपरा मुक्तिः = कामप्रम्	४
			७ अशोकमहिमम्	५
			८ उपासकानाम् = सालोक्यम्	६
			९ सामीप्यम्	७
			१० सारूप्यम्	८
			११ सायुज्यम्	९
७	... ...	१	१८ संसारगतिः = संपरायः = देवलोकगतिः = सप्तस्वर्गगतिः	७
८	... ...	२	२१ पितृलोकगतिः = पितृस्वर्गगतिः	३
९	... ...	३	२८ यमलोकगतिः = अधोगतिः	७
१०	... ...	४	११२ प्रेत्यभावः = मनुष्यलोकगतिः = योनिगतिः	८४
			देवयानगतिः शुक्लगतिः = अर्चिर्गतिः { ब्रह्मपथः	१
			{ देवपथः	२
			पितृयाणगतिः = कृष्णगतिः = धूमगतिः { पितृपथः	३
			{ यमपथः	४

(नित्यगतिः)

उक्थार्करूपाशितिभिर्विभागात् सर्वोऽयमात्मा भवति त्रिसंस्थः ।
तासां गतिर्भिन्नवदस्ति तस्मादस्यात्मनो भाति गतिश्चतुर्धा ॥
सा मुक्तिरस्योत्क्रमतेऽशितिश्चेन्नित्या गतिः सोत्क्रमते यदर्कः ।
उक्थो यदुत्क्राम्यति संसृतिः सा पञ्चत्वमुक्था वियुता यदि स्युः ॥
भुक्तः स्वयोनिं प्रतीयाति तस्मादेकोऽयमर्को भवति द्विधाऽन्नात् ।
स्ववृद्धिहेतोः क्वचिदस्ति सोऽन्नं विस्रस्तिपूर्त्यै तु सदान्नमत्ति ॥

योऽन्नादात्मा प्राणिति विस्रस्तिः सृप्तिरस्य गतिः ।
अखिलेषु भूतजातेष्वनवरतं भाति नित्या तत् ॥
अहरहरात्मा गच्छति सूर्य्ये चन्द्रे क्षितौ च वायौ च ।
नाड्या गच्छति रश्मिभिरागच्छति सोऽस्ति संसृप्तिः ॥
प्रत्यर्थमेवास्ति गतिर्द्वयी त्वसौ या याज्ञिकी साहरहः प्रवर्तते ।
हृद्ग्रन्थिबन्धच्यवनात् पृथक् पृथक् चौत्क्रामिकी सम्भवतीह कर्हिचित्।
सा याज्ञिकी नित्यगतिर्हि या तया बद्धाश्च्यवन्ते न तु बन्धविच्युतिः।
औत्क्रान्तिकी कालगतिस्तयायं बन्धोऽपि साकं च्यवते तथाऽगमः॥
दीपार्चिषि त्वङ्गिरसां च धाराः सहस्रशः संततसंहितास्ताः ।
नष्टाः सहोत्पत्तिवशादनष्टास्तदेकमर्चिश्चिरमीक्षयन्ते ॥
आदर्शतोयादिषु दृश्यबिम्बस्यारम्भकाः सूर्य्यकराः पृथक् पृथक् ।
नद्यम्बु यावत् सरति प्रपद्ये तावत् पुनस्तद्वदिहापि भाव्यताम् ॥
प्रवाहिका संततधारयाऽनिशं प्रवर्तते तत्र न रूपवीच्यवः ।
भूतानि देवाश्च भुवं दिवं ययुः सहैव चायान्ति पुनर्भुवो दिवः ॥
कदाचिदुत्क्रान्तिरुदेति सा तनोर्हृद्ग्रन्थिबन्धच्यवनान्निमित्ततः ।
शश्वत् त्वियं यज्ञगतिर्निसर्गतस्तदित्थमन्वर्थमियं गतिर्द्विधा ॥
नित्या गतिर्य्यज्ञविधा त्वियं तया विस्रंसनेऽप्यस्ति न बन्धविच्युतिः।
या त्वात्मनः कालगतिस्तया त्वयं देहोक्थबन्धश्च्यवते प्रदीपवत् ॥

(कालगतिः)

भूतात्मनामा य इहैष आत्मा द्वे तस्य रूपे अमृतञ्च मर्त्यम् ।
दैवाश्च भौताश्च विकारसंघा मर्त्या अथ प्राणघनोऽमृतांशः ॥
तान्यप्ययन्ते निजयोनिमेव प्रयन्ति मर्त्यान्यमृतानि चाशु ।
न्यायेन तेनैव पृथग्वदेषां गतिर्निरुक्ता निजयोनिभेदात् ॥

(द्वे पञ्चत्वगती)

तथा हि देहाद् बहिरुच्चरन्तो देवेषु देवा गगनेऽपि यन्ति ।
भूतेषु भूतान्यपि यन्ति भूमौ यथाश्रुतौ वाजसनेय आह ॥
सूत्रश्लथत्वादमृतात्तु मर्त्याः पृथग् भवन्तो यदि यन्ति योनिम् ।
तामत्र पञ्चत्वगतिं वदामो दैवी च भौती च पृथग् द्विधा सा ॥

भूतानि भूतेष्वपि यान्तिकाले सा भूतपञ्चत्वगतिर्निरुक्ता ।
देवाश्च देवान् प्रतियन्ति देहात् तां देवपञ्चत्वगतिं वदामः ॥
वाचं यदा सोऽतिवहत्यथैषाऽतिमुच्यते मृत्युमभूच्च सोऽग्निः ।
परेण मृत्युं स च दीप्यतेऽतिक्रान्तोऽग्निरेवं निखिलेषु विद्यात् ॥
वागग्निमप्येति मृतस्य पुंसः प्राणोऽस्य वायुं तरणिं तु चक्षुः ।
चन्द्रं मनः श्रोत्रमिदं दिशोऽनु पृथ्वीं शरीरं गगनं तथाऽऽत्मा ॥
वनस्पतीन् वा अपयन्ति केशा लोमौषधीरप्सु तु रक्तरेतः ।
यः पूरुषः कर्मगतः स पुण्यः पुण्येन पापेन च पाप एव ॥
प्राणा इहैव प्रभवन्ति लीना नोत्क्रान्तिमायान्ति तु भूतभक्ताः ।
उच्छून आध्मायति सोऽचिरेणाध्मातोमृतः शेत इति ब्रुवन्ति ॥
मृन्मृत्तिकास्वाप इमा अपोऽनु तेजो नु तेजांस्यथ खानि खेऽस्मिन्।
वायुस्तु वायाविति निर्गतासोर्भूतानि पञ्चस्वपि यन्ति पञ्च ॥

मुक्तिः संसृतिरिति द्विविधोत्क्रान्तिगतिः ।

यः खल्वसौ कामयमान आत्मा देहं विहायोत्क्रमते स काले ।
सोत्क्रान्तिरस्यैषमूहगतिर्द्वितीया सा च द्विधा संसृतिमुक्तिभेदात् ॥

मुक्तिभेदाः ।

जीवस्य नैष्कर्म्यगतिर्विमुक्तिः कैवल्यनिर्वाणकृता द्विधा सा ।
यद्ब्रह्म कैवल्यमुदेति तत्र तत् कर्म्मनिर्वाणमिति ब्रुवन्ति ॥
निर्वाणमेवाभ्युपयन्ति ते येऽमृतं द्विषन्ति श्रमणा असन्तः ।
ये ब्राह्मणा ब्रह्म वदन्ति तेऽमी कैवल्यमेवोपदिशन्ति मुक्तिम् ॥
सद्योविमुक्तिः क्रममुक्तिरित्थं मुक्तिर्द्विधा तावदिहात्मनः स्यात् ।
अस्पृश्य पित्र्यानपि देवलोकान् ब्रह्मेति चेत् सद्य इयं विमुक्तिः ॥
निष्काम आत्मा यदि बुद्धियोगात् करोति कर्म्माण्यखिलान्यसक्तः।
न तत्करोत्येष न लिप्यते तैर्ज्ञानाग्निदग्धं चितमस्य कर्म्म ॥
अनिच्छयात्मा यदि चेदसक्तः करोति कर्म्माणि निवृत्तकर्मा ।
नात्मा स तस्योत्क्रमते विदेहस्त्विहैव स ब्रह्मणि यात्यपीतम् ॥
जीवात्मनः सर्वविधोप्युपाधिर्निवर्तते मृत्युविकारसङ्घः ।
तन्मृत्युरूपातिनिवृत्त्यपेक्ष्यं निर्वाणनाम्नाहुरिमां विमुक्तिम् ॥

विद्याविशेषाद् यदि भेदबुद्ध्या निवृत्तिमायान्ति तदाखिलं जगत् ।
आत्मैव दृश्येत तदेकतावशात् कैवल्यमुक्तिः प्रथते तदात्मनः ॥

भूमोदर्कः–क्षीणोदर्कः–इति द्विविध क्रममुक्तिः ।

कर्मप्रभावात् पितृदेवलोकानासाद्य विद्युत् पुरुषात् परस्तात् ।
स केवलं ब्रह्म भवेदशेष स्वकर्मनाशे क्रममुक्तिरेषा ॥
कार्याणि सर्वाणि तु कारणात्मना पश्यन्ति चेत् तर्हि विकारसञ्चयः।
आत्मैव तेषां भवतीति चात्मनो भूमास्त्युदर्कःक्रममुक्तिरस्ति सा ॥
कर्माणि सर्वाणि निरन्नभावतो यदा निरस्यन्ति निवृत्तिकर्मणा ।
आत्माऽवशिष्येत तदा स आत्मनःक्षीणोऽस्त्युदर्कःक्रममुक्तिरस्ति सा ॥
इत्थं यतस्तूभयथा स तत्राऽवशिष्यते केवल एक आत्मा ।
कैवल्यमाहुस्तत आत्मनस्तन्मृत्योस्तु निर्वाणमुदेति तत्र ॥

कैवल्यमुक्तिः निर्वाणमुक्तिरिति परा गतिः ।

आत्मा हि वाक्प्राणमनोमयो यः कर्म्माणि तस्मिन् जनयन्ति मृत्युतः ।
प्राणे क्रिया वाचि तु शुक्रभूतं कामं मनस्यत्र ततः स मृत्युः ॥
कामाश्च शुक्राणि च भूतसंघा आत्मप्रतिष्ठा न विनात्मना स्युः ।
ते यत्र गच्छन्त्यपि तत्र चात्मा भातीव गच्छन्निव तोयबिम्बम् ॥
कामाधिकाः शुक्रभरास्तु भौतिकाः पतन्ति भारातिशयादमीषु तत् ।
ज्योतिर्भवत्यल्पबलं ततो हि ते सूर्याद्विदूरां दिशमापतन्ति हि ॥
कामे निवृत्तिः क्रमशो निवृत्तं शुक्रं भवेद् भूतकुलं च तद्वत् ।
इत्थं स मृत्युं परिहाय शुद्धः कैवल्यमाप्नोति परा गतिः सा ॥
जीवोपसर्गे विगते विशुद्धं ब्रह्मावशिष्टं न तदैष जीवः ।
व्यादेष्टुमर्हस्तदुपाधिनाशात् तदात्मकैवल्यमिदं वदन्ति ॥
निर्वाणकैवल्यकृतां विमुक्तिं द्विधा विदुस्तत्र निरात्मताया ।
निर्वाणमाहुर्न निरात्मतेयं सिध्यत्यतो नार्यमते तदस्ति ॥

संसारगतिः ।

चतुर्विधा संसृतिरुच्यते पुनर्या सद्गतिर्योनिगतिश्च दुर्गतिः ।
या चागतिः सा तनुनिष्क्रमाद्गतिर्लोकान्तरं नैति ततो गतिर्मता ॥

या सूर्यदिश्यन्तरतोऽस्ति सोर्ध्वतः साधोगतिः सूर्यविदिक्षु या बहिः ।
ऊर्ध्वा गतिः सद्गतिरस्ति दुर्गतिस्त्वधोगतिर्योनिगतिः पुनर्जनिः ॥
दैवी गतिः सद्गतिरस्ति देवताः स्वर्गाः स्थिता सप्त हि सूर्यमण्डले ।
मिथ्यागतिः सद्गतिरस्ति पैतृकाः स्वर्गा स्त्रियः सन्ति हि चन्द्रमण्डले॥

गतिनिमित्तानि ।

विद्याश्च कर्माणि च हेतवो गतौ ततो विचित्र मतयःपृथग्विधाः ।
कर्मैव वा तत्र निमित्तमिष्यते विहीयते कर्म्मबलं तु विद्यया ॥
विद्याप्रकाशस्तदकर्म तेन सा गतौ निमित्तं न कदापि सम्भवेत् ।
कर्म्मप्रतिद्वन्द्वितया तु विद्यया निवृत्तिकर्म्माणि च तन्निवृत्तयः ॥
आत्मायमानन्दमयः प्रियत्वाच्छान्तः समृद्धौ द्विविधः स दृष्टः ।
शान्तं सदानन्दमयं तु रूपं समृद्धमस्यावरकं न यावत् ॥
कर्माणि सन्ति द्विविधानि कानिचिद् विद्यानुसारीण्यपवृण्वते न ताम्।
स्वच्छैस्तु तैः कर्मभिरेति सुश्रियं सौम्यांश्च लोकान् सुखमत्र सोऽश्नुते॥
कर्माणि यानि त्वपवृण्वते धियं तान्यात्मनः सन्ति विदूषकाणि हि ।
तैः कल्मषैः कर्मभिरेति दुर्गतिं याम्यांश्च लोकान्न सुखं च विन्दति ॥
धर्मैरमीभिर्बहुसत्त्वभाजां चरित्रमेषां भवतीह साधुः ।
तैरेव धर्मैस्तु तमःप्रधानैः कपूयचारित्र्यमिमे चरन्ति ॥
शुभा गतिः साधु चरित्रशालिनःकपूयचारित्र्यवतस्त्वधोगतिः ।
पुण्यस्य पापस्य च भोग्यतःक्षये पुनः पृथिव्यामवतीर्य जायते ॥
क्रोधश्च कामो मदमोहलोभा मात्सर्यमेते नियतात्मधर्माः ।
तमः प्रधानस्य त आत्मभासोऽपकर्षकाः सत्त्व वहस्तुनैवम् ॥
यत्रात्मनोज्योतिरिदं कथंचिद् स्यादावृतं तर्हि स शोकभावः ।
ऐकान्तिकज्योतिरभाव एतज्जाड्य तमस्तत्परमं च दुःखम् ॥
येनात्मनो ज्योतिरिहावृतंस्यादालस्यकामः स हि शोकमूलम् ।
तमस्तदत्यन्तमुदेति यस्मिन् शेते तदालस्यभयं तु भूतम् ॥
कर्म्माणि विद्याद्वयमात्मरूपं कर्माणि फेनानिव भूतसंघात् ।
उत्पाद्य संवृण्वत आत्मनस्तै र्ज्योतिः स तस्याभिहितोऽपकर्षः ॥
ज्योतिष्मतोऽप्यावरणा तु कामः स्वकर्मजैरस्यतमिस्रभावात् ।
अधोगतिस्तत्र परा तु काष्ठा सा यत्र तेजस्तमसोश्च सन्धिः ॥

विद्यावशात् कर्मगतिप्रशान्तःसोमो भवेत् तेन भवेत् स आत्मा ।
ज्योतिर्मयःशान्तिमयः प्रसन्नस्तत्रापि तस्य द्विविधा गतिः स्यात् ॥
विद्याप्रधानानि यदास्य कर्माण्यात्मा तदा ज्योतिरनुप्रवेशात् ।
ऊर्ध्वं चरेत् सोऽभ्युदयोऽथ सूर्य्यं भित्वातु निःश्रेयसमेष याति ॥
नैष्कर्म्यमायाति यदा तदानीं विलीयतेऽस्याखिलकामसंघः ।
कामे विवृत्ते गतिहेतु नाशान्नसंसरत्येष परा गतिः सा ॥

गतिहेतुकामः ।

अथामृतानां गतयः पृथग्वद् भूतात्मनः कर्मगतिः प्रसिद्धा ।
स्वापितिरेव प्रथिते तरेषां कैवल्यमन्ते तु परात्मनः स्यात् ॥
भूमीरसे पुष्यवदं स रक्ते मर्त्येऽमृतैस्तैः सहिते चिदंशः ।
भूतात्मसंज्ञोस्ति स कर्मभोक्ता लोकान् स लोकान्तरमेति काले ॥
कामैश्च सर्वैर्महतः स्वरूपैः प्रज्ञानमावेष्टितमेतदस्ति ।
तैरेव कामैरनुकृष्यमाणो लोकात्सलोकान्तरमेति काले ॥
उल्वेन गर्भोऽथ मलेन दर्पणो, धूमेन वह्निर्व्रियते यथा तथा ।
महानयं काममयो यथा क्रतुः सोऽत्रास्त्यमुत्रापि तथा भवेद्ध्रुवम्॥
"कामान्यः कामयते मन्यमानः सकामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्ममनस्तु, इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥
स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं, निहितं भाति शुभ्रम ।
उपासते पुरुषं येह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥
यं यं लोकं मनसा संविभातिविशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥
विद्यया तदा रोहन्ति यत्र, कामा परागताः ।
न तत्र दक्षिणायन्ति, ना विद्वांसस्तपस्विनः ॥"

विप्रतिपत्तिशोधनम् ।

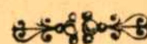
यद्देवयानेन यथोपसर्पतो, विधूननं व्यध्वनि पुण्यपापयोः ।
वदन्ति कौषीतकिनो विचक्षणा,आसीद्दतोऽद्धा विरजां परां धुनिम्॥
विद्युत् प्रवाहो विरजा पराधुनी त्रैलोक्यसीमेत्यवधारयाम्यहम् ।
रजांसि लोका बिरजास्त्रिलोकतो बहिः परं धाम परोरजायते ॥
यत्रैव देहादप सर्पतिक्षणे,पुण्यं च पापंच विधूय याति सः ।
इत्थं च शाट्यायनिनश्च ताण्डिनो वदन्ति तस्मिन् विवदन्ति केचन॥

न सांपरायेतरणीयमस्त्यतोविधूननं साधु भवेदुपक्रमे ।
इत्थं च शारीरकभिक्षुसूत्रकृन्मतेन निर्धारयतीह भाष्यकृत् ॥
वयंतु पश्याम इहोभयं मतं साध्वेव शाट्यायनिनां वचोऽस्तितत् ।
सद्यो विमुक्त्यै क्रममुक्तिबोधक,वचस्तु कौषीतकिनां न दुष्यति ॥

मन्ये तु विद्या पृथगस्ति[1]षोढ़ा निर्णीतकर्म्मा[2]कृतपूर्वकर्मा ।
सहो[3]दयाकर्म[4]बलाभिभूता,दुष्कर्मणा[5] प्राग्निहिता[6]ऽति हीना ॥
विशुद्वसत्वेन तु कामकर्म्मशुक्राद्यविद्यार्थसमूलनाशे ।
विशुद्धविद्योदयते स आत्मा कैवल्यमेत्यक्रममुक्तिरेषा ॥
सद्यो विमुक्तिस्त्विहकर्मनाशात्, तत्रैव कर्तव्यममुष्य वर्त्म ।
नास्तीतिनैषोऽर्हति सांपरायं, तदेव तु प्राहसभिक्षुसूत्रे ॥
विद्यास्ति यद्यस्य तु कर्म्मपूर्वा, द्वयोर्बलित्वाद् यदिनाभिभूतिः ।
स देवयानेन पथास्वरेत्योपभुज्य शुद्धः क्रममुक्तिमेयात् ॥
तत्रैवकौषीतकिभिस्तदुक्तं, रजांसिधुन्वन् विरजाप्रदेशे ।
स ब्रह्मपर्य्यङ्कमुपैति प्रज्ञा, क्रमाच्चतुर्धा क्रममुक्तिमेति ॥
विद्यातुयज्ञादिसुकर्मसंहिता, भोगेविभागो यदि नेतयोर्भवेत् ।
सहोदयासाऽभ्युदयेनयोजयन्त्याधत्तएवं दिविनैषमुच्यते ॥
विद्याबलिष्ठेन सुकर्म्मणा, यदाभिभूयते नैतिसदेवयानतः ।
पित्र्यान् सलोकानुपपद्य कर्म्मणां,क्षये पुनर्भूमिगतः प्रजायते ॥
विद्यास्ति पूर्वापतनोयकर्मणा, पृथक्कृताचेत्पितृलोकतःक्रमात् ।
स नारकं लोकमुपेत्ययातना,भुक्त्वा पुनर्भूमिगतःप्रजायते ॥
विद्यातिहीनोभयमार्गयोगिवा न कर्म्मचेत्राधरगतिस्तदाभवेत् ।
चन्द्रादधस्ताच्चिरमन्तरिक्षगो,गन्धर्वयोनिः सततोन्नृयोनिजः ॥
कोटा पतङ्गा अपिदन्दशूकं भ्रष्टा हि मार्गद्वयतस्तएते ।
गन्धर्वलोकेऽपि नयान्तितेऽस्यांपुनःपुनर्जन्म मृतिच यन्ति ॥

इति षष्ठः परिच्छेदः ।

❋ समाप्ताचेयं ब्रह्मचतुष्पदी ❋



॥ श्रीः ॥



ब्रह्मचतुष्पदी शुद्धि-पत्रम्





पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		अथ ब्रह्म परिभाषा ।	
१	८	सूर्य प्रकाशं	सूर्यप्रकाश
१	१६	पुरिव द्ध	पु र वसद्भिः
२	२५	परमेश्वर	परमेश्वरं
		अथ ब्रह्मचतुष्पदी ।	
१	१३	एकमेवाद्वतीयं	एकमेवाद्वितीयं
२	१६	आहुत्यानुपरेऽमी	आहुत्याऽनुपरेऽमी
३	१२	आहूयतेऽनुवरतं	आहूयतेऽनवरतं
३	१६	वऽधिभूत	वाऽधिभूत
३	१६	मध्यत्म	मध्यात्म
४	२	प्रजापति	प्रजापति
४	१३	परिमतश्च	परिमितश्च
४	२२	सप्रति	संप्रति
५	४	तद्धृदय	तद्धृदयं
५	८	पशन्दधत	पशून्दधत
५	२०	नदु	तदु
६	१४	ध्रु वमन्य	ध्रवमन्य
६	२६	पराभिन	पराभिर्न
७	५	भवाद्वहु	भावाद्वहु
७	८	तृलत्य	तूलस्य
७	१५	लद्	तद्
८	११	पत्तमशेपत्त	मोशे
८	१८	निगूढ़	निगूढं
८	१९	पञ्चत्तरे	पञ्चात्तरे
८	२७	वकारिकरूढ़	वैकारिकरूढ़
९	१२	मेदुभयं	मेतदुभयं
९	२८	प्रविणं	प्रवणं
१०	१	बोद्धमना	बद्धमना
१०	७	तिदास्ति	तदास्ति
१०	१४	ज्ञान	ज्ञानं
१०	१५	क्रियार्थौ तदर्थः	क्रियार्थौ ज्ञानं तदर्थः
१०	१७	समस्त	समस्तं
१०	१८	क्रियवा	क्रियया
१०	२०	प्राणाल्ह	प्राणाल्प
१०	२०	विक्षप्त	विक्षिप्त
१०	२१	वितान	विभान
१०	२४	पाणं	प्राणं
१०	२७	सर्वेऽप	सर्वेऽपि
१०	२९	अधिष्ठात्	अधिष्ठात्
११	५	पेत्य	मुपेत्य
११	६	वाश्रय	वाश्रयं
११	८	सूर्योयऽमग्ने	सूर्योऽयमग्ने
११	८	पृथ्वीय	पृथिवीय
११	१०	स्यात्तद्वय	स्यात्तद्वयं
११	१४	आभ्यत्यतः	आम्यत्यतः
११	१८	लदय	लक्ष्ये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२२	वीजा	बीजा
११	२६	सुपपर्णा	सुपर्णा
१२	२	तेऽभो	तेऽमी
१२	५	विज्ञ नघना:	विज्ञानघना:
१२	७	क्रिय ते	क्रियन्ते
१२	१३	त्रिपुरुषो	त्रिपूरुषो
१२	१६	सञ्ज्ञयोक्ता:	संज्ञयोक्ता:
१२	१६	यावदिमेऽनुक्ता	यावदिमेऽनुक्ता
१२	२३	थान्तत:	मथान्तत:
१२	२३	स्यत्	स्यात्
१३	१	कार्त्स्न्या	कार्त्स्न्यात्
१३	२	पञ्चकृन भेदो	पञ्चीकृतभेदो
१३	४	कमत:	क्रमत:
१३	६	पञ्चपकुर्वन्ति	पञ्चोपकुर्वन्ति
१३	७	निपन्ध द्	निबन्धाद्
१३	७	कुनो	कुतो
१४	२७	भक्तिर्ब्र ह्माणि	भक्तिब्रह्माणि
१५	६	वेद स्त्रयो	वेदास्त्रयो
१५	११	मर्हर्षि	महर्षि
१५	११	भेदा:	प्रभेदा:
१५	२४	विकारोन्यऽ	विकारोऽन्य
१५	२४	येन्	यन्
१६	१	केन	फेन
१६	२	उक्ता	उक्तो
१६	६	केशास्थ्यदीनि	केशास्थ्यादीनि
१६	१५	कहाड़	कहोड़
१६	१७	हान्	महान्
१६	२२	सक्त्वात्मा	सत्त्वात्मा
१७	५	वहोक्थ	महोक्थ
१७	६	स्रसते	स्रंसते
१७	१६	प्रथमजे	प्रथमजं
१७	१६	प्रतिष्ठावी य	प्रतिष्ठावीर्य्य
१७	१६	मृत्युमथानि	मृत्युमयानि
१७	१७	उत्थिते	उत्थितेषु
१७	१७	साम्येन विमवति	साम्येनाविर्भवति
१७	१८	विर्भातति	विभर्त्तीति
१७	१६	उग्मुग्ध	उन्मुग्ध
१७	२६	पञ्चात्तरागय	पञ्चात्तराण्य
१८	१०	तद्क	तदकृ
१८	११	ताद्ध	तद्धि
१८	१३	मुदीय	मुदीर्य
१८	२३	वेदयत्रयी	वेदत्रयी
१८	२७	ह्मव	ह्येव
१८	२७	प्रतिष्ठ,	प्रतिष्ठा,
१६	१	व्रतेननान्तरिज्ञा	व्रतेनान्तरिक्ष
१६	४	समुट्र	समुद्र
१६	१४	श्रीभिरमुप्य	श्रीभिरमुष्य
१६	१८	बिन्दुध्रियते	बिन्दुर्ध्रियते
१६	१६	वग्तु	वस्तु
१६	२०	गवि	गति
१६	२३	ततोंशऽ	ततोंऽश
१६	२४	तत्साम्	तत्साम
१६	२४	यौगिकोऽर्थी	यौगिकोऽर्थो
१६	२६	यद्भ्रवति	वद्भवति
२०	१३	एत दन्त:	एतदन्त:
२०	१४	नाभो	नाभौ
२०	१८	पूर्वस्व	पूर्वस्य
२०	१६	प्रतिव्वास	प्रतिव्यास

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	२८	सामान्युस्र	सामान्युस्रा
२०	२८	तच्छ्रूति	तच्छ्रुति
२१	११	प्रसाराग्ह्रस्वी	प्रस्साराद्ध्रस्वी
२१	१४	त्यभिधीयते	ऽस्त्यभिधीयते
२१	२१	त्रिविध बूहत्	त्रिविधं बृहत्
२१	२४	दिक	दिक्
२१	२५	प्रोत	प्रोतं
२२	६	समविधान	सामविधान
२२	६	श्रत्यश्रौषं	श्रुयाश्रोषं
२२	१८	तान्युचः	तान्यृचः
२२	२०	प्रस्युति	प्रस्तुति
२२	२५	वाच्येविमवेतरत्र	वाच्यैव मिवेतरत्र
२२	२६	ग्रानक्कासीद्	आनक्कासीद्
२३	१	प्रथम दिते	प्रथमो दते
२३	१२	प्रवृत्ति:	प्रवृत्ति:
२३	१५	पीन्ना	पीब्ना
२३	१६	ह्रव भवत्	ह्रस्वं च भवत्
२३	१६	वेदस्तत	वेदतस्तत्
२३	२६	समानहड्	समानहङ्
२४	६	सास्ति:	साति
२५	१४	नुरुक्ति:	निरुक्ति:
२७	६	सृष्टऽथ	सृष्ट्वाऽथ
२७	११	तत्रा	तत्र
२८	१७	परांभुञ्ज ञ्जन्ति	परांञ्च भुञ्जन्ति
२८	२१	परस्पर	परस्परं
२८	२४	यज्ञ	यज्ञं
२९	१८	तमेव	तमेवा
२९	२८	तृप्ति	तृप्ति
३१	७	सम ो	समतो
३२	१५	योग्यत र्थं	योग्यतार्थं
३३	४	नषि	नर्षि
३३	५	नानापितृर्णा	नानापितृणां
३३	५	जातया:	जातय:
३४	१२	सोमोच्चय	सोमच्चय
३५	७	योऽमृते	योऽमृत
३५	३०	प्रकीत्तिता:	प्रकीर्त्तिता:
३६	८	त्युदिता	स्युदिता
३६	८	पुरीपु	पुरीषु
३६	१४	संकोचयन	संकोचयन्
३६	२१	स्युमृदियं	स्युर्मृदियं
३७	७	यदानी	तदानी
३७	१०	यथा सन्	यथासन्
३७	१०	चीणनष्टा	क्षीणनष्टा
३७	१५	स्थान	स्थान
३७	१६	ज्ञानोदपाय	ज्ञानोदयाय
३७	२१	अन्नादनुकल्प:	अन्नादनकल्प:
३८	२	धौन्द्रियेण	धीन्द्रियेण
३८	५	बत्संयुत	तत्संयुत
३८	८	यिरुद्धविज्ञा	विरुद्धविज्ञान
३८	२१	त्व बलेभ्य	त्वबलेभ्य
३८	२५	बा	वा
३८	२६	यौगिक:स्यात्	यौगिकभावइष्ट:
३९	१	व्यूहश्चतुर्वग:	व्यूहश्चतुर्वर्ग:
३९	८	प्राण य	प्राणस्य
३९	६	स्यु स्तदात्म	स्यु तदात्म
३९	११	तदिहा तरङ्ग	तदिहान्तरङ्गं
३९	१५	सन्तद्धदि	सन्तर्द्धदि
३९	१८	विदुविन्त	विदुर्विन्त
३९	२७	दशङ्ग	दशाङ्ग
३९	२८	नभ्योऽयात्मा	नभ्योऽयमात्मा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०	३	त्रीण्यन्तरङ्गणि	त्रीण्यन्तरङ्गाणि
४०	४	प्रदिनोति	प्रधिनोति
४०	१०	त्रेघा	त्रेधा
४०	१५	कि	किं
४०	१५	यच्छब्दवत	यच्छब्दत
४०	१६	बक्ति	वक्ति
४०	१६	त्रिघा	त्रिधा
४०	२५	निमान	निमान्
४०	२५	पृथक	पृथक्
४१	१	त्र णि	त्रीणि
४१	५	त्वन्ता	त्वनन्ता
४१	१६	ससर्ग	संसर्ग
४१	२६	सम्पत्ति कृतश्च	सम्पतिकृतश्च
४२	६	त्रैगुण्यसंचारः	त्रैगुण्यसंचरः
४२	२७	प्राणादय तस्य	प्राणादयस्तस्य
४३	४	आत्मशि	आत्मांश
४६	४	विद्यास्युपास्तिः	विद्यास्त्युपाति
४६	४	समत्ता	समस्ता
४६	१८	तदद्ध	तदूर्द्ध
४६	२०	यऽम्	ऽयम्
४७	१०	पादोऽमचिन्त्य-शक्तिः	पादोऽहमचिन्त्य-शक्तिः
४७	१०	श्रृणोत्यकर्णः	श्रृणोम्यकर्णः
४७	२२	यथाश्रतं	यथाश्रुतं
४७	२३	नच्छ्रोतृ	तच्छ्रोतृ
४६	८	साधुनः	साधु नः
५१	१४	वन्दन्तो	वदन्तो
५८	५	चिताःचितेरेव	चिताचितेरेव
५६	१७	समक	सनक
६०	१०	परात्मनोऽन्या	परात्मनोऽन्या
६०	१५	ताविदुपाश्रिताः	तावदुपाश्रिताः
६०	१८	प्रथतः	प्रथमः
६१	११	सामन्ततस्तम्	समन्ततस्तम्
६१	२२	वाय्वाकोशौ	वाय्वाकाशौ
६१	२५	परात्मुख्ये	परात्ममुख्यै
६२	५	तिलं	बिलं
६२	२५	अस्येश्वर येन्द्रिय	अस्येश्वरस्येन्द्रिय
६३	१६	इश्वरो	ईश्वरो
६५	७	ननतः	न ततः
६५	११	तीर	तोर
६६	२	ससमुद्रलीनः	स समुद्रलीनः
६६	७	मार्गय	मार्गं य
६७	४	बोधयितं	बोधयितुं
६७	८	जगत्पूण	जगत्पूर्ण
६७	११	सवदैव	सर्वदैव
६७	१६	प्राणो	प्राणो
६८	४	जीवत्यमु मै	जीवत्यमुष्मैः
६८	६	स्व थे	स्वःथे
६८	६	रतनू	स्तनू
६८	१४	पान्ती त	पान्तीति
७०	८	पृथगात्गनां	पृथगात्मनां
७०	१०	ताण्डवो	ताण्ड्यो
७०	१७	विदुन	विदुर्न
७०	२०	श्वईरा	ईश्वरा
७१	६	जलमस्ति	र्जलमति
७१	१५	उद्भिज्जवर्याः	उद्भिज्जवर्गाः
७२	२३	क्रथतो	क्रमतो
७३	५	पनविंत्ता	पुनर्वित्ता
७३	६	देहिनी	देहिनो
७३	१३	सर्वेन्द्रियस्य	सर्वेन्द्रियस्यास्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७३	१६	केशलोत्तमा	केशलोमा
७५	४	सताप्तं	समाप्तं
७५	६	भगन्त्यु	भवन्त्यु
७५	६	स्रायं	स्वयं
७५	१०	वास्तवमथ	वास्तवमर्थं
७५	११	विमशने	विमर्शने
७५	२०	धारणाज्ञानं	धारणा ज्ञानं
७६	८	प्रत्यतातिरिक्ता-त्मवादः	प्रत्ययातिरिक्तात्म-वादः
७६	११	प्रेषिमेति	प्रेषितमेति
७८	१४	स्या साप्त	स्या सा त
७८	१५	स्युस्तथा	स्युस्तथा
७९	३	रसमश्रिते	रसतश्रिते
७९	६	सरीर	शरीरे
७९	१३	रसत्रिलोक्या:।	रसास्त्रिलोक्या:
७९	१६	श्र क्राणि	शुक्राणि
७९	२६	त्यात्	स्यात्
८०	४	तमन्वेत्र	तमन्वेव
८०	२५	रन्घ्रै	रन्ध्रै
८१	८	भुङ्ते	भुङ्क्ते
८१	१४	कृतवा	कृता
८१	२१	सुदध्धो	सुदध्या
८१	२८	नुक्तस्त	नूक्तात
८२	२०	रूतं	रूपं
८२	२६	प्रत्यगस्त्यधरं	प्रत्यगस्यत्यधरं
८३	३	दियं	दिव्यं
८३	७	सोऽग्नि	सोऽग्निं
८३	२८	मत्मान	मात्मान
८३	२६	नान्थत्र	नान्यत्र
८३	३०	वायु तु	वायुस्तु
८५	२६	भौक्तं	भोक्तुं
८६	२३	विभिन्नतास्ति	विभिन्नतास्ति
८७	२२	प्रसृष्ट:	प्रसृष्ट:
८८	२६	समर्थमू	समर्थम्
८८	२८	अज्ञानमेतद्	अज्ञानमेतद्
८९	११	सन्य:	सत्य:
९०	१२	पादय	पादाय
९१	२०	बेहिया	र्बहिर्या
९१	२३	मृत्यु	मृत्यु:
९२	११	अंगष्ठ	अंगुष्ठ
९२	१७	योनिश्च	योनीश्च
९२	२१	यदनडवान्	यद्वनड्वान्
९३	१८	सेतु	सेतुं
९४	१६	वकेदिण	वक्रऽद्दिण
९४	२६	चैकाश्च	चैका च
९५	१	यद्वदितस्ततो	यद्वादिहाततो
९५	१२	नरवाग्र	नखाग्र
९५	१७	मनं	मतं
९५	२४	जृम्भृते	जृम्भते
९५	२५	महिमा स्त	महिमास्ति
९५	२५	गनो	मनो
९५	२५	वाबियम	वागियम्
९५	२८	चरन्त	चरन्तं
९६	१	द्योरिन्द्रेण	द्यौरिन्द्रेण
९७	२३	कर्मकार त्ययं	कर्म कारयत्ययं
९८	८	स्वप्रान्त	स्वप्नान्त
९८	१५	धिपैषां	धियैषां
१००	२२	शिलाकिन	शिलाकन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	२२	हुत तन्नरबिज	हुत तन्नरबीज
१०२	११	चावयव:	चावयवा:
१०२	२६	प्रकृतेवरो	प्रकृतेर्वशे
१०३	१	पुन प्रदाने	पुन:प्रदाने
१०३	११	देषता स्थितिः	देवतास्थितिः
१०३	१७	वजो	गजो
१०३	१७	वृष	वृषः
१०३	२४	यज्ज्ञावा	यज्ज्ञात्वा
१०४	३	महान्त	महान्तः
१०४	२६	सदसद्विचाद	सदसद्विचार
१०६	२५	यत्तजस	यत्तैजस
१०७	४	महतोऽिम	महतोऽस्ति
१०७	१६	पृथगवत्	पृथग्वत्
१०७	२०	धातस्ति	धातास्ति
१०७	२५	सृष्टिर्िक	सृष्टिर्दिक्
१०७	२७	निमिता ते	निर्मितास्ते
१०९	१	गृध्र	गृध्रः
११०	५	त्वरूपं	स्वरूपं
१११	४	वैश्वानरा	वैश्वानरो
११२	१३	सवर्वियवेषु	सर्वावयवेषु
११२	१६	स्याद्भवि	स्याद्भुवि
११३	१०	इहेतव त्सरः	इहेत वत्सरः
११३	१७	वैश्वानरोऽग्निभु	वैश्वानरोऽग्निर्भु
११३	१८	प्रतितिष्ठ तिस्वयं	प्रतितिष्ठति स्वयं
११३	२०	उर्ध्वाधरं	ऊर्ध्वाधरं
११३	२२	त तयोः	ततयोः
११४	७	धर्य्यं तएव	धर्य्यंत एव
११४	१३	यिविष्टाः	निविष्टाः
११४	१३	वैद्यत	वैद्युत
११५	१	धर्माच्च	धर्मधर्माच्च
११५	३	स्त्विद्रि	स्त्विन्द्रिय
११५	१३	बह्लक्	वह्लक्
११६	२	सुषुप्त	सुपुतौ
११६	७	मिथत्तर्हि	मिथस्तर्हि
११६	२२	तथेद्र	तथेन्द्रं
११६	२४	श्रति	श्रुति
११७	८	नियुङ्क्ते	नियुङ्क्ते
११७	१६	प्राणान्	प्राणन्
११८	५	तछ्रोत्रस्य	तच्छ्रोत्रस्य
११८	१३	मनां	मना
११८	१७	मिनानि	मिमानि
११८	२२	शरीप्रमितः	शरीर प्रमित
११८	२४	प्राज्ञोयऽमात्मा	प्राज्ञोऽयमात्मा
११८	२६	प्रवेदादिव	प्रभेदादिव
११९	१७	विज्ञान सांमुख्य–	विज्ञान सांमुख्या
११९	२१	यदोऽत्र	यदाऽत्र
११९	२१	संकार विधा	संस्कारविधाः
११९	२३	वद्धयते	वर्द्धयते
११९	२४	प्रज्ञ य	प्राज्ञस्य
११९	२८	तैषा	सैषा
१२०	५	सुप्तावस्थाः ।	सप्तावस्थाः ।
१२०	१३	स्वशिमतः	स्वरश्मितः
१२०	२१	प्राणद्धि	प्राणाद्धि
१२२	१	स्वप्नं	स्वाप्नं
१२२	२	तदात्यनः	तदात्मनः
१२२	३	स्वाप्नं	स्वाप्न
१२२	२१	वपुषा	वपुषो
१२२	२३	भोमे स्थित	भौमे स्थितं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२३	१३	सर्वजीता	सर्वजीवा
१२४	१८	क्वचिद्द्वि	क्वचिद्द्धि
१२४	१८	तदाद्रतम्	तदाद्रुतम्
१२५	१२	जहान्येष	जहात्येष
१२७	२४	स द्वादशास्त्रस्य	सद्वादशास्त्रस्य
१२७	३०	निर्धारयितं	निर्धारयितुं
१३०	६	प्राज्ञः	प्राज्ञःस
१३०	१७	यौ— सहि	यो-सहि
१३१	१५	समवल	सम्वलय
१३२	३	पितृयणाम्	पितृयाणम्
१३५	१५	सोत्क्रान्तिरस्येएमह	सोत्क्रान्तिरस्येह
१३६	२३	निरात्मताया	निरात्मतायाम्
१३७	६	विचित्र	विचित्रा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३७	२९	तनसोश्च	तमसोश्च ।
१३८	४	भित्वा तु	भित्त्वा तु
१३८	९	स्वापितिरेव	स्वापीतिरेव
१३८	१७	कृतान्ममनस्तु	कृतान्मनस्तु
१३८	२२	कामा	कामाः
१३८	२५	यथोपसर्पतो	पथोपसपतो
१३८	२६	आसीद्दतोऽद्धा	आसीद्दतोऽद्धां
१३८	२८	परोरजायते	परोरजा यतः
१३८	२९	देहादप सर्पति	देहादपसर्पति
१३९	४	बोधक	बोधकं ।
१३९	१०	प्राहस	प्राह स
१३९	११	यद्यस्य	यज्ञस्य
१३९	१२	शुद्रः	शुद्धः
१३९	२२	सततोनृयोनिजः	स ततो नृयोनिजः
१३९	२४	मृतिच	मूर्तिच



मुद्रकः—
रूपनारायण पाण्डेय एम. ए.,
दी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड, जयपुर ।